देवराज सुराणा, ब्यावरः—
अध्यक्ष—श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति,
रतलाम (मध्य-भारत)
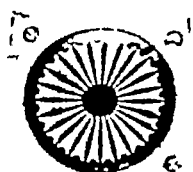
प्रकाशक—

छगनलाल डूगड़ मल्हारगढ़ः—
मन्त्री—श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति,
रतलाम (मध्य-भारत)

युगत्रये पूर्वमतीतपूर्वे,
जातास्तु जाता खलु धर्ममल्लाः ।
अयं चतुर्थो भवताच्चतुर्थे,
धात्रेति सृष्टोऽस्ति चतुर्थमल्लः ॥

दिवाकर दिव्य ज्योति के नियम
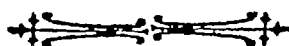
(१) एक सौ या इससे अधिक सहायता देने वाले का नाम दिवाकर दिव्य ज्योति के जितने भाग प्रकाशित होंगे उन सभी मे प्रकाशित होगा।

(२) एक सौ से कम देने वाले का नाम एक भाग में ही प्रकाशित होगा।

(३) अपना फोटू कोई देना चाहे तो एक भाग में ही प्रकाशित होगा और उसको सहायता की रकम से २५) रुपये अधिक देने होंगे।

(४) सहायदाताओं की सेवा में एक पुस्तक बिना मूल्य भेजी जायगी।

(५) पुस्तक बिक्री की रकम इन्हीं पुस्तकों के दूसरे संस्करणों मे लगेगी।

(६) जो स्थाई ग्राहक होना चाहे उन्हें २) रुपये डिपोजिट कराना पड़ेगा।

व्यवस्थापकः—

प्रवचनकार:—
स्व. जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पं० मुनि श्री चौथमलजी महाराज

सहायकगण की शुभ नामावली

दिवाकर दिव्य ज्योति के नाम से स्व० श्री जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पंडित रत्न मुनि श्री चौथमलजी महाराज के प्रभावशाली व्याख्यान सीरिज रूप में प्रकाशित कराने के लिए निम्न लिखित महानुभावो ने सहायता देकर अपूर्व लाभ लिया, इसके लिए सहर्ष धन्यवाद है:—

रुपये:—

५०१) श्रीमान् सेठ सिरेमलजी नन्दलालजी पीतलिया, सिहोर की छावनी
५००) ,, ,, गुलराजजी पूनमचन्दजी, मदनगंज
३००) ,, ,, चौथमलजी सुराणा, नाथद्वारा
२५०) { ,, कुंवर मदनलालजी संचेती, ब्यावर
,, सेठ जीवराजजी कोठारी, नसीराबाद }
२००) ,, ,, शंभूमलजी गंगारामजी बंबई फर्म की तरफ से श्रीमान् सेठ केवलचन्दजी सा० चोपड़ा, सोजत सीटी
१५०) ,, ,, राजमलजी नन्दलालजी भुसावल
१५०) ,, ,, हस्तीमलजी जैठमलजी, जोधपुर
१२५) ,, जिनगर अमरचन्दजी इन्दरमलजी गौतमचन्द जैन, गंगापुर

१२५) ,, ,, कस्तूरचन्दजी पूनमचन्दजी जैन, ,,
१२५) ,, ठेकेदार तोलारामजी भंवरलालजी, उदयपुर
१२५) ,, ,, धनराजजी फतहलालजी, ,,
१२१) ,, सेठ ...., जयपुर
१०१) ,, जिनगर तेजमलजी रोशनलालजी, गंगापुर (मेवाड़)
१००) ,, सेठ लालचन्दजी पुखराजजी मुणत, सिकन्दराबाद
७५) ,, ,, स्वरुपचन्दजी पूनमचन्दजी साएड, पाली
६०) ,, , चुन्नीलालजी देसरला, भीम
५१) ,, ,, मेहता फतेमलजी लाभमलजी सा०,
सोजत सीटी (मारवाड)
५१) ,, ,, वस्तीमलजी मगराजी मगरेच्या,
सोजत सीटी (मारवाड़)
५१) ,, ,, पन्नालालजी शिवराजजी पोरवाड़,
सोजत सीटी
५१) ,, ,, पन्नालालजी प्रेमसुखजी लोढ़ा अजमेर
५०) ,, ,, गोटमलजी खींवराजजी लूंकड़, राखी
४०) ,, ,, मोजीरामजी हीरालालजी, भीम
२५) ,, जिनघर चुन्नीलालजी रतनलालजी गंगापुर (मेवाड़)
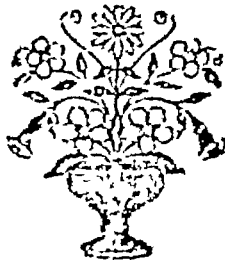
दो शब्द

भूमण्डल पर बसे मानव जगत मे वाणी का वड़ा ही महत्त्व-पूर्ण स्थान है। वाणी का वल भी एक बल है, और वह वल वह है जो जनता के मन. प्रदेश पर अखण्ड साम्राज्य स्थापित करने के लिए संसार की दूसरी तूफानी ताकतो से कहीं अधिक महत्त्व रखता है।

जब जन-समूह मे सदाचार की सुगन्ध से महकता हुआ महा पुरुष बोलने लगता है, तो ऐसा मालूम होता है, मानो अमृत का झरना वह चला हो। सब ओर शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाता है और जनता के मन के कण-कण में दैवी भावनाओ का मधुर स्वर झंकृत हो उठता है। महान् आत्माओ की वाणी अन्तर्जगत की पवित्रता का उज्ज्वल प्रतीक होती है। इसी वात को ध्यान में रखकर एक आचार्य कहता है—'सहस्रेषु च पण्डितः, वक्ता शतसहस्रेषु ।' अर्थात् हजार मे एक पण्डित होता है, और लाख मे कहीं एक वक्ता मिलता है। वक्ता, और वह भी योग्य वक्ता होना, वस्तुतः कुछ साधारण वात नहीं है।

श्रद्धेय जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज अपने युग के एक महान् विशिष्ट प्रवक्ता थे। आपकी वाणी में सुधारस छल-कता था। जिसने भी एक वार आपका प्रवचन सुना, वह फिर कभी भूला नहीं। आप अपने श्रोताओं को मंत्र मुग्ध से कर देते थे। राज महलों से लेकर झौंपडियों तक में आपकी वाणी ने वह स्थान पाया कि जनता आश्चर्य-चकित हो उठी। आपकी वाणी

में वह नाद था कि बच्चा, बूढ़े, "क्या बालक, क्या तरुण, क्या पण्डित, क्या साधारण अबोध जन सभी पर अपना प्रभाव डालता था और उपस्थित जन समूह को एक वार तो सद्भावना की पवित्र तरंगो में दूर तक वहा ही ले जाता था। आप जहाँ भी जाते वहीं, आपके उपदेशों के प्रभाव से जनता में जागृति की एक नई लहर, एक नई चहल पहल पैदा कर देते थे।

प्रस्तुत 'दिवाकर दिव्य ज्योति' नामक पुस्तक जैन दिवाकरजी के उन्हीं प्रभावशाली प्रवचनों का एक सुन्दर संग्रह है। पं० मुनि श्री प्यारचन्द्रजी महाराज की गुरुभक्ति का यह मधुर फल, जनता की आध्यात्मिक भूख को शान्त करने में वहुत उपयोगी सिद्ध होगा। मैं मुनि श्री प्यारचन्द्रजी को इसके लिए धन्यवाद दूंगा कि उन्होंने श्री दिवाकरजी की श्रोतृवृन्द पर वरसती हुई वचन रूप दिव्य किरणों को लेखबद्ध कराया, जिस से सर्व साधारण जनता युग युगान्तर तक प्रकाश प्राप्त करती रहेगी।

श्री दिवाकरजी महाराज की व्याख्यान शैली सहज, सरल और सुबोध है। वे वहुत गहराई में न उतर कर, जनता के हृदय को युगानुकूल स्पर्श करते हुए चलते हैं। उनके व्याख्यानों का मूलाधार जनता में नैतिक भावनाओं को उद्दीप्त करना है। वे सीधी सादी भाषा में एक छोटी सी बात इस ढंग से कह जाते हैं, जो कुछ देर तक श्रोता या पाठक के मन में गूंजती रहती है। प्रस्तुत संग्रह में इस शैली का चमत्कार पाठकों को यत्र तत्र सर्वत्र मिलेगा। मैं आशा करता हूँ, जैन अजैन सभी धर्म वन्धु इस समयोपयोगी सुन्दर ज्योति से, अन्धकार से भरे जीवन में उचित प्रकाश प्राप्त करेंगे।

मदनगंज,
ता. १-१२-५१

—उपाध्याय अमर मुनि

श्रीमान् कस्तूरचंदजी, चुन्नीलालजी, रतनलालजी
पुनमचन्दजी, गौतमचंदजी जैन। जिनगर
गंगापुर (मेवाड)

प्रकाशकीय-निवेदन
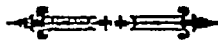
प्रातः स्मरणीय जैन दिवाकर गुरुदेव श्री चौथमलजी महाराज "प्रसिद्ध वक्ता" के नाम से प्रसिद्ध थे। उनके व्याख्यान अत्यन्त रोचक, सरस, सरल और नैतिक एवं धार्मिक उपदेशों से परिपूर्ण होते थे। लाखों-श्रोताओं ने उनकी पवित्र वाणी सुनकर अपना जीवन कृतार्थ किया है। खेद है कि तारीख १५-१२-५१ को कोटा नगर में गुरुदेव स्वर्ग सिधार गये! हमारे लिए यह बड़े से बड़े दुर्भाग्य की बात थी। गुरुदेव के कतिपय स्थानो के व्याख्यान संकेत लिपि द्वारा लिपि बद्ध करा लिये गये थे। उन्हीं व्याख्यानो को सम्पादित करवा कर आज "दिवाकर दिव्य ज्योति" के रूप मे हम पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहे हैं।

"दिवाकर दिव्य ज्योति" का यह पहला प्रकाश है। अगले कुछ प्रकाश भी सम्पादित होकर तैयार हो चुके है। और आशा है कि पाठको के कर-कमलों मे उन्हे भी हम यथासंभव शीघ्र ही उपस्थित कर सकेंगे। गुरुदेव की यही एक स्मृति अवशेष रह गई है जिसके सहारे हम अपने जीवन को उन्नत और पवित्र बना सकते हैं। अतएव पूर्ण विश्वास है कि पाठक दिवाकर दिव्य ज्योति को उसी भाव से अपनायेंगे, जिस भाव से उनके व्याख्यानों को अपनाते थे।

इन व्याख्यानों का सम्पादन पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल सम्पादन कला विशारद ने किया है। सम्पादित होने के पश्चात् साहित्य रत्न विद्वद्वर मुनि श्री प्यारचन्दजी महा० ने इनका आद्योपान्त सिंहावलोकन और आवश्यक संशोधन भी किये हैं। मुनि श्री जैन दिवाकरजी महाराज के प्रधान शिष्य हैं, और प्रवचनों के रूप में उनकी स्मृति को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील है। वास्तव में आपकी गुरु भक्ति इस युग में एक सुन्दर एवं आदर्श उदाहरण है जो प्रत्येक के लिए अनुकरणीय है। मुनि श्री ने तथा पं० बर्य मुनि श्री कस्तूरचन्दजी म०, शास्त्रज्ञ पं० मुनि श्री सहस्रमलजी महा०, प्रसिद्ध वक्ता पं० मुनि श्री रामलालजी म०, पं० रत्न मुनि श्री प्रतापमलजी म०, पं० मुनि श्री हीरालालजी म०, सा० रत्न मुनि श्री भगनलालजी म०, मनोहर व्या० मुनि श्री चम्पालालजी म०, सा० रत्न मुनि श्री केवलचन्दजी म०, सा. रत्न मुनि श्री मोहनलालजी म., व्या. मुनि श्री हुक्मीचन्दजी म., तपस्वी विजय राजजी म०, व्या० मुनि श्री वर्धमानजी म०, सेवा भावी मुनि श्री मन्नालालजी म०, प्रभाकर व्या० मुनि श्री चन्दनमलजी म०, सा० विशारद मुनि श्री विमलकुमारजी म०, धर्म भूषण मुनि श्री मूलचन्दजी महा०, सा० रत्न अवधानी श्री अशोक मुनिजी म० आदि मुनिराजों ने इसमें संशोधन सिंहावलोकन प्रेरणा और उचित मार्ग दर्शन किया है। उसके लिए अतीव आभारी हैं। जिन उदार श्रीमंतों की आर्थिक सहायता से सम्पादन-प्रकाशन का कार्य आरंभ और अग्रसर हो सका है, उनकी नामावली पृथक् दी जा रही है। उनके प्रति भी हम अत्यन्त आभारी हैं।

यहाँ इतना निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि गुरुदेव के व्याख्यानो के प्रकाशन का कार्य विराट है और एक सीरीज़ के रूप में वह चालू हो रहा है। अतएव ज्योति की एक २ प्रति अपने वाचन में रखकर गुरुभक्ति का परिचय तथा इस महान् कार्य में प्रेरक बनकर अनुष्ठान मे आप सहायक होंगे। गुरुदेव की शिक्षाएं जीवन को उंचा उठाने वाली और सारगर्भित हैं। आशा है पाठक इनसे पूर्ण लाभ उठाएँगे और इनका अधिक से अधिक प्रचार करने में सहायक होंगे। प्रकाशन में अगर किसी प्रकार की त्रुटि रह गई हो और सावधानी रखने पर भी कोई बात आगम से न्यूनाधिक हो गई हो तो विद्वज्जन सूचना करने की कृपा करे ताकि अगले संस्करण में सशोधन किया जा सके।

निवेदकः—

देवराज सुराणा, अध्यक्ष,
छगनलाल दुगड़, मन्त्री,

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति,
रतलाम (मध्यभारत)

प्रस्तावना
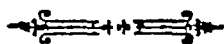
जिन महापुरुष के प्रवचनों के संग्रह में से यह प्रथम पुष्प पाठकों के कर-कमलों में पहुंच रहा है, उनके संबंध में यहाँ कुछ अधिक लिखना न तो आवश्यक है और न प्रासंगिक ही। उन्हे स्वर्गासीन हुए अभी एक ही वर्ष हो रहा है। गत वर्ष दिसम्बर मास में ही कोटा मे उन्होंने महाप्रस्थान किया था। अतएव शायद ही कोई ऐसा पाठक होगा जो उन महापुरुष से परिचित न हो। पचास वर्ष से भी अधिक की अपनी सयम-साधना के दीर्घ काल मे वे भारत के विभिन्न प्रदेशों में विचरे थे और अपने अद्भुत प्रभाव से जनसमाज को उन्होंने आकर्षित किया था। उनका व्यक्तित्व अनूठा था, उनके नेत्रों से करुणा का असाधारण प्रवाह बहता था, उनके हृदय मे नवनीत की कोमलता थी, उनकी वाणी में सुधा की मधुरता थी, उनके समग्र जीवन व्यवहार में सरलता, संयतता और भद्रता का प्रशस्त सम्मिश्रण था। इन सब विशेषताओं के कारण कोटि-कोटि जनता के वे श्रद्धाभाजन बन सके थे। 'गुरुदेव' और 'जैन दिवाकरजी' के नाम से वे सर्वत्र प्रख्यात हुए। क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या राजा और क्या प्रजा, क्या नर और क्या नारी, सभी के लिए उनकी जीवनी आज आदर्श है। आज उनके पावन व्यक्तित्व की स्मृति मात्र से हृदय अधीर हो उठता है!

गुरुदेव प्रायः प्रतिदिन प्रातः काल प्रवचन किया करते थे। प्रवचन करने की उनकी शैली अद्वितीय थी। उनके कोमल कण्ठ

में न जाने क्या जादू भरा था कि जो एक दिन भी उनके प्रवचन को सुन लेता, वही उनका पुजारी बन जाता था ! मगर पुजापे की उन्हें चाह नहीं थी। कभी माँगते तो बस एक ही चीज़ माँगते थे—दान करो, शील पालो, तप करो, सुन्दर भावना रखो ! यही उनका चढ़ावा था। इस प्रकार जैन दिवाकरजी ने लेना नहीं, सिर्फ देना ही देना सीखा था। वे जब तक जीवित रहे, दुनिया को अनमोल भेंट, अपने प्रवचनों द्वारा भी और अपने जीवन-व्यवहार द्वारा भी, देते ही रहे।

जैन दिवाकरजी संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और फ़ारसी भाषाओं के विद्वान् थे। उनका शास्त्रीय ज्ञान काफी गहरा था। दूसरे साहित्य का अध्ययन भी विशाल था। फिर भी उनके प्रवचनों की भाषा बहुत ही सरल होती थी, इतनी सरल कि अक्षरज्ञान से शून्य देहाती जनता भी उसे बिना किसी दिक्कत के सहज ही समझ लेती थी। भाषा की सरलता के साथ शैली की उत्तमता का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ था। वे जो कहते, बड़े मनोरंजक ढंग से कहते थे। अपने श्रोताओं को जिस किसी भावना के रस में डुबाना चाहते, उसी में सफलता के साथ डुबा देते थे। उनका भाषण सचमुच बड़ा प्रभावशाली होता था।

गुरुदेव के उपदेशों से प्रभावित होकर सहस्रों नर-नारियों ने अपने जीवन का सुधार किया है। राजस्थान के राजाओं, जागीरदारों और जमींदारों में उनका मान उतना ही था, जितना लगभग जैनसमाज में। यही कारण है कि गुरुदेव के प्रवचनों से प्रभावित होकर बहुतों ने जीवहिंसा का त्याग किया, शिकार खेलना छोड़ा, शराब पीना छोड़ा, मांसभक्षण छोड़ा, बहुतों ने बीड़ी-सिगरेट आदि मादक द्रव्यों का परित्याग किया। इससे कोई यह

न समझें कि जैन-दिवाकरजी उच्च वर्ग के ही गुरुदेव थे। नहीं, तेली, धोबी, कुम्भार, रेगर, मोची आदि कौमों में भी उनका वैसा ही मान था। इन कौमों से सैकड़ों आदमियों ने गुरुदेव की संगति करके अपनी आदतों को सुधार कर अपने जीवन को उन्नत बनाया है। कहाँ तक कहे, वर्ण, जाति आदि के भेदभाव के बिना उन्होंने प्राणी मात्र पर असीम अनुकम्पा बरसाई है। उनके पावन प्रवचनों को सुनकर अगणित मनुष्यों ने मनुष्यता पाकर अपने को धन्य बनाया है।

गुरुदेव ने सन् १९४८ में राजस्थान के सुप्रसिद्ध नगर जोधपुर में चातुर्मास किया था। इस चातुर्मास में किये गये प्रवचनों को संकेत लिपि में श्री धर्मपालजी मेहता द्वारा लिपिबद्ध कर लिया गया था। वही प्रवचन जैन तत्त्व-मर्मज्ञ सपादन कला विशारद पंडित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल द्वारा सम्पादित होकर 'दिवाकर दिव्य ज्योति' नामक सीरीज के रूप मे प्रकाशित हो रहे हैं। इस प्रथम पुष्प के बाद शीघ्र ही अगले पुष्प भी पाठकों के हाथों में पहुँच जाने की आशा है।

प्रत्येक प्रवचन आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव की स्तुति से प्रारंभ होता है। गुरुदेव भक्तामर स्तोत्र के एक पद्य से अपना प्रवचन प्रारम्भ करते थे। उसी पर विवेचन करते हुए अपने अभीष्ट विषय पर जा पहुँचते थे और अन्त में प्रायः किसी चरित पर व्याख्यान करते थे। चरित का व्याख्यान भी उपदेशों से परिपूर्ण होता था। बीच-बीच में सुन्दर उपदेश फरमाते हुए चरित-व्याख्यान को वे अग्रसर किया करते थे। उनकी उसी मौलिक शैली को सुरक्षित रखते हुए व्याख्यानों का सम्पादन किया गया है।

गुरुदेव वक्ता होने के साथ कवि भी थे। उनके द्वारा विरचित पद्य-साहित्य काफी विशाल है। अक्सर वे अपने प्रवचनों में

अपने ही रचे हुए पद्यों को सुनाया करते थे। इससे श्रोताओं का मन ऊबता नहीं था और वे अन्त तक एक रस होकर मुग्धभाव से प्रवचनों का श्रवण करते रहते थे। आवश्यकतानुसार संस्कृत, प्राकृत और उर्दू आदि भाषाओं के पद्यों का भी समावेश होता था, जैसा कि पाठक इन प्रवचनों में पाएँगे।

जैन दिवाकरजी के प्रवचन सार्वजनिक होते थे। बहुजन-हिताय, बहुजनसुखाय, ही उनकी समस्त प्रवृत्तियों का मूल आधार था। अर्थात् अधिक से अधिक जनता की भलाई के लिए ही वे प्रयत्नशील रहते थे। जनसमाज का हित सदाचार से ही हो सकता है, अतएव सूक्ष्म तत्त्व विवेचना की अपेक्षा उनके प्रवचनों में सदाचार के प्रति प्रेरणा ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। ज्ञान के साथ जीवन को ऊंचा उठाने वाले आचार की ओर ही वे अधिक ध्यान आकर्षित किया करते थे। संभवतः उनकी सूक्ष्म दृष्टि से भारतीय जनता की आचारहीनता—जो दिनोंदिन बढ़ती चली जाती है—छिपी नहीं रह गई थी और वे इस त्रुटि को दूर करना चाहते थे।

दिवाकरजी की सुधास्राविणी वाणी आज भी हमारे कर्ण-कुहरों में गूंज सी रही है। हमें वर्षों तक उनकी वाणी को श्रवण करने का सौभाग्य मिला है। परन्तु जिन्हें उनकी वाणी सुनने का अवसर नहीं मिला है उनके तथा भविष्य में होने वाली प्रजा के हित के लिए उनके प्रवचनों का सुरक्षित रह जाना अतीव उप-योगी है। उनकी सुरक्षा में जिन-जिन महानुभावों ने योग प्रदान किया है, वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं और भावी प्रजा के आशीर्वाद के भी पात्र बनेंगे।

व्यक्ति का असली व्यक्तित्व उसके आचार-विचार में ही है। महान् से महान् व्यक्ति का शारीरिक ढांचा तो वैसा होता है

जैसा साधारण से साधारण आदमी का। फिर भी दोनो में जो अन्तर है, वह उनके आचार विचार का ही है। इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो कहा जायगा कि गुरुदेव का असली व्यक्तित्व, उनका अन्तर्जीवन, उनके उच्च और पवित्र आचार-विचार में ही निहित था। दुर्भाग्य से आज हम उनके आचार को नहीं देख सकते, मगर सौभाग्य से उनके विचार आज भी इन प्रवचनों के रूप मे हमें सुलभ हो रहे हैं। अतएव कहना चाहिए कि इन प्रवचनों के रूप मे आज भी गुरुदेव जीवित है और जब तक पृथ्वीतल पर यह प्रवचन मौजूद रहेगे, गुरुदेव भी जीवित रहेंगे। प्रवचनों के शब्द-शब्द में गुरुदेव की आत्मा गूंज रही है। इन के अक्षर-अक्षर में गुरुदेव समाये हुए हैं। यह सारे प्रवचन उनके अन्तर्जीवन के प्रतिबिम्ब है। यह उनके सच्चे स्मारक ही हैं। इनके प्रचार से बढ़कर गुरुदेव के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदन करने का और कोई तरीका नहीं हो सकता। गुरुदेव की दिवंगत आत्मा को यह जान कर अवश्य सन्तोष होगा कि उनका आरंभ किया हुआ कार्य आज समाप्त नहीं हो गया है। वे अन्तिम समय तक जो प्रचार करते रहे, वह आज भी जारी है।

अन्त में हम उन सब को, जो गुरुदेव को 'अक्षर' रूप में जीवित रखने का प्रयास कर रहे हैं, अपनी मर्यादा मे रहते हुए धन्यवाद देना चाहते हैं और आशा करते है कि गुरुदेव के भक्तगण विशेष रूप से दिलचस्पी लेकर गुरुदेव के उपदेशों को घर-घर में पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे, जिससे गुरुदेव का उपकार-कार्य यथावत् जारी रह सके और जगत का कल्याण हो।

साहित्य रत्न केवलमुनि
साहित्य रत्न मोहनमुनि

आभार प्रदर्शन

पाठक महोदय,

यह संस्था अब तक साहित्य प्रकाशन के द्वारा आपकी जो सेवा कर सकी है उसका श्रेय उन सभी उदार चेता, साहित्य-रसिक, और धर्मप्रिय महानुभावों को है, जिन्होंने समय २ पर अपनी ओर से आर्थिक या अन्य प्रकार की सहायता देकर संस्था को इस योग्य बनाया है। अतएव हम उन सभी सहायकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इस संस्था के हितैषियों में श्रीमान् रायबहादुर सेठ कुन्दनमलजी लालचन्दजी साहब कोठरी ब्यावर निवासी का स्थान सर्वोच्च है। आप इस सस्था के आश्रय दाता भी हैं। आपके मुख्य सहयोग से ही संस्था श्री जैन दिवाकरजी महाराज का बहुत-सा साहित्य प्रकाशन करने में समर्थ हो सकी है। श्री जैन दिवाकर स्मारक मे भी आपका सराहनीय सहयोग रहा है। श्री जैन दिवाकरजी महा० के प्रति आपकी भक्ति आदर्श और अनुकरणीय रही है।

ब्यावर निवासी स्व० श्रीमान् सेठ कालूरामजी सा० कोठारी, श्रीमान् सेठ सरूपचन्दजी सा० तालेड़ा, श्रीमान् सेठ देवराजजी सा० सुराणा, श्रीमान सेठ चान्दमलजी सा० टोडरवाल, श्रीमान् सेठ बसतीमलजी सा० बोहरा और श्रीमान सेठ अभयराज जी सा० नाहर आदि २ महानुभाव भी इस सस्था के प्रमुख

सहायकों में हैं। इन्होंने समय समय पर आर्थिक सहायता तो दी ही है। अपना समय भी दिया है। और संस्था को दिवाकरजी के साहित्य प्रकाशन में समर्थ बनाया है। हम इन सब धर्म प्रेमी और उत्साही श्रीमानों के प्रति अतीव कृतज्ञ हैं और कामना करते हैं कि वे दीर्घायु होकर संस्था को भी दीर्घजीवी बनाएँ।

उपर्युक्त द्रव्य सहायकों के अतिरिक्त इस संस्था को जिन मुनिराजों की अतिशय मूल्यवान भाव सहायता अब तक प्राप्त हुई है, उनमें पण्डित रत्न महा मुनि श्री प्यारचन्दजी महा० की सहायता अत्यन्त सराहनीय रही है। जैन दिवाकरजी महा० के प्रति आपकी भक्ति का विचार करते समय श्री जम्बू स्वामी का स्मरण हो आता है। आपके ही उत्साह और उद्योग से इस साहित्य का उद्धार और सम्पादन हो सका है। आपकी ओर से साधुता की मर्यादा में हमें जो प्रेरणा मिली है, उसके लिये हमारे साथ सभी पाठक आपके प्रति कृतज्ञ होंगे।

चान्दमल कोठारी

मंत्रीः—

श्री जैन दिवाकर मित्र मन्डल
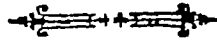
ब्यावर (अजमेर)

विषयानुक्रमणिका

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

मोह-मदिरा
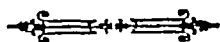
॥ स्तुति ॥

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानम्,
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्त्ति ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महा
राज फरमाते हैं:—हे सर्वज्ञ सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमा
पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहां तक स्तुति क
जाय? देवाधिदेव, कहां तक आपके गुणों का गान कि
जाय? आपकी आत्मा में अनन्त गुण हैं और एक-एक गु
की अनन्त-अनन्त पर्यायें हैं। वह सब वचन से किस प्रक
कही जा सकती हैं? यह जिह्वा बेचारी मांस का पिण्ड है
इसमें वह शक्ति कहां कि आपके समग्र गुणों का गान अ

बयान कर सके ? फिर वह एक ही है और आपके गुण अनन्त हैं। अगर हजार जिह्वाएँ भी किसी को प्राप्त हो जाएं तो भी प्रभो ! आपके गुणों का परिपूर्ण वर्णन नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव की गुणगाथा अवर्णनीय तो है ही, अचिन्तनीय भी है। मन के द्वारा भी उसका चिन्तन नहीं हो सकता। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि 'मई तत्थ न गाहिया' अर्थात् परमात्मा के स्वरूप के विषय में मति का भी प्रवेश नहीं हो सकता है। तो जहां मति की भी गति नहीं है, वहां चित्त की प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकती है ?

भगवान् ऋषभदेव जब गृहस्थावस्था में रहे तो जगत् का कल्याण करने में तत्पर रहे। उन्होंने मानव-जाति के जीवन का पथ प्रदर्शित किया समाज-व्यवस्था की नींव डाली और राज्यशासन का आरम्भ किया, जिससे मनुष्य नीति के मार्ग पर चलते हुए अपने जीवन को धर्म की आराधना का पात्र बना सके। धर्म सुपात्र में ही ठहरता है, कुपात्र में नहीं। इसलिए धर्मयुक्त जीवन बनाने के लिए नीतिमय जीवन की जरूरत होती है। भगवान् ऋषभदेव ने धार्मिक जीवन की तैयारी के रूप में जीवन-नीति और समाजनीति आदि का निर्माण किया, जो आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है।

भगवान् ऋषभदेव को इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए असंख्य युग व्यतीत हो चुके हैं। इस लम्बे अर्से में उनके द्वारा की हुई व्यवस्थाओं में तरह-तरह के परिवर्तन हुए हैं और द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार परिवर्तन हो रहे हैं, फिरभी

यह मूल व्यवस्थाएं तो भगवान् की बतलाई हुई ही हैं। इन व्यवस्थाओं के लिए मनुष्य समाज भगवान् का कितना ऋणी है? भगवान् ने अगर राज्यशासन का प्रारंभ न किया होता तो कोई क्षण भर के लिए भी चैन से नहीं बैठ सकता था। बलवान् पुरुष निर्बलों को उसी तरह निगल जाते जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। इसी प्रकार अन्यान्य व्यवस्थाओं के अभाव में मनुष्य, मनुष्य न रह जाता। आज मनुष्य जाति सुख और सन्तोष के साथ जीवित है तो यह भगवान् ऋषभदेव का ही प्रताप है। अलबत्ता जिस-जिस अंश में दुनिया भगवान् के बतलाये हुए मार्ग से विमुख हो रही है, उस--उस अंश में वह सुख-शांति से दूर होती जाती है और मुसीबतों से घिरती चली जाती है।

भगवान् एक हजार वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहे और फिर पूर्ण ज्ञानी हुए। पूर्ण ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ होकर भगवान ने विश्व के स्वरूप को यथार्थ रूप में जाना और तीनों लोकों और तीनों कालों के भावों को हस्तामलक के समान स्पष्ट रूप से देखने लगे। उस समय भगवान् की असली और पूरी महिमा प्रकाश में आई। भगवान् ने संसार को लोकोत्तर धर्म का सन्देश दिया। उन्हें अलौकिक ऋद्धि की प्राप्ति हुई। देवों ने आठ महाप्रातिहार्यों की रचना करके भगवान् के प्रति अपनी भक्ति प्रकट की। यद्यपि भगवान सब प्रकार की कामनाओं को जीत चुके थे उन्हें किसी प्रकार के वैभव की इच्छा नहीं थी, लेकिन देवों ने महाप्रातिहार्यों की रचना करके भक्ति प्रकट की और अपना कल्याण साधा।

आठ महाप्रातिहार्यों में अशोक वृक्ष पहला है। भगवान् जहां पधारते हैं, विराजमान होते हैं और सदुपदेश देते हैं,

वहां भगवान् के ऊपर अशोक वृक्ष की छाया होती है। वह अशोकवृक्ष खूब फूला-फला होता है। बड़ा ही सुन्दर होता है, मनोरम होता है और उस पर दृष्टि पड़ते ही दर्शकों को अपार आनन्द का अनुभव होने लगता है। उसे देखने वाले अपना शोक भूल जाते हैं। इसी कारण वह 'अशोक' वृक्ष कहलाता है। वह वनस्पतिकाय का नहीं होता वरन् पार्थिव होता है। वह भगवान् के साथ-साथ चलता है। यदि वनस्पतिकाय का होता तो भगवान् के साथ-साथ कैसे चल सकता था? भगवान् के अतिशय के प्रभाव से वह साथ-साथ चलता है और देखने वालों को प्रसन्नता प्रदान किया करता है।

मैंने सुना है, कई लोग 'अशोक' को 'आशोक' कहा करते हैं। मगर ऐसा कहना अशुद्ध है और यह एक ऐसी अशुद्धि है जिससे कि अर्थ का अनर्थ हो जाता है। 'आशोक' कहने से हिन्दी भाषा के अनुसार शोक, चिन्ता, फिक्र को बुलाने का अर्थ निकलता है; मानों शोक को आमंत्रण दिया जाता हो! और संस्कृत भाषा के अनुसार 'आ' का अर्थ होता है पूर्ण रूप से या चारों तरफ से। तो 'आशोक' का अर्थ यह होगा कि जिसकी बदौलत पूरी तरह से शोक हो। अब आप सोचिए कि कहां तो 'अशोक' का अर्थ है शोक मिटाने वाला और कहां 'आशोक' कहने से अर्थ हो गया खूब या पूरी तरह से शोक उत्पन्न करने वाला! यह अर्थ का अनर्थ नहीं तो क्या है?

हमेशा शुद्ध बोलना चाहिए। अशुद्ध उच्चारण को शास्त्र में दोष माना गया है। ज्ञान के जो अतिचार आप लोग प्रतिक्रमण में बोला करते हैं उन्हें भलीभांति समझेंगे तो पता

चलेगा कि शुद्ध उच्चारण की शास्त्रकारों ने कितनी हिमायत की है और यह बतलाया है कि उच्चारण में एक स्वर या व्यंजन की भी भूल नहीं करनी चाहिए।

एक बहिन ने व्याख्यान में सुना—'पहीणजरमरणा' अर्थात् भगवान् जरा और मरण से अतीत हो चुके हैं। वह बहिन जब अपने घर पहुंची तो उस पद को भूल गई और कहने लगी- 'पीहर जा कर मरना!' यह कितना अर्थ का अनर्थ है!

तो 'अशोक' को अशोक ही बोलना चाहिए। यह वृक्ष दुनिया को संदेश देता है कि मैं तो नाम का ही अशोक हूँ और केवल नेत्र-रंजन करके क्षण भर थोड़ी-सी प्रसन्नता प्रदान कर सकता हूँ। असली अशोक तो भगवान् हैं। वे शाश्वत सुख शान्ति के प्रदाता हैं। उन्हें नमन करो, उनका प्रवचन सुनो, उनके उपदेश को धारण करो तो तुम्हारा शोक समूल नष्ट हो जायगा और तुम स्वयं 'अशोक' बन जाओगे।

शोक एक प्रकार का आर्त्तध्यान है। वह प्रायः तब होता है जब हमारी मर्जी के अनुकूल कोई प्रिय वस्तु जुदा हो जाती है या जो चीज हमारी मर्जी से खिलाफ है, जिसे हम नहीं चाहते, उसका संयोग हो जाता है या रोग आदि हो जाता है।

शोक, मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है। मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां हैं। मोहनीय कर्म मूल में दो प्रकार का है- दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियां हैं-मिथ्यात्वमोहनीय मिश्रमोहनीय और समकित-

मोहनीय। चारित्रमोहनीयकर्म भी दो प्रकार का है-कषाय चारित्रमोहनीय और नोकषाय चारित्रमोहनीय। कषाय चारित्र मोहनीय के सोलह भेद हैं-अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। नो-कषाय चारित्रमोहनीय के नौ भेद हैं-(१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) शोक (५) भय (६) जुगुप्सा (७) स्त्रीवेद (८) पुरुषवेद और (९) नपुंसक वेद।

आठों कर्मों में मोहकर्म सब से जबर्दस्त है। वह कर्मों का राजा है। जैसे राजा के मारे जाने पर सेना नहीं टिकती, वह फौरन भाग खड़ी होती है इसी प्रकार मोह कर्म का नाश होने पर दूसरे सभी कर्मों का नाश होने में देर नहीं लगती। जो लोग गुणस्थान का थोकड़ा जानते हैं, उन्हें मालूम होगा कि एक ओर से चेतनराज और दूसरी ओर से मोहराज का जब घोर संग्राम छिड़ता है तो दोनों अपनी-अपनी पूरी ताकत लगा देते हैं। यद्यपि मोहराज बहुत बलवान् है, फिर भी चेतन-राज जब अपनी प्रचंड शक्ति के साथ हमला करता है तो मोहराज सामना करने में असमर्थ हो जाता है। चेतनराज धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान रूपी आग्नेय बाणों से मोहराज को छिन्न भिन्न कर डालता है और अप्रतिपाती दशा प्राप्त करके बारहवां गुण स्थान प्राप्त कर लेता है। मोह राजा का नाश हो जाने पर उसकी सेना के भी पांव उखड़ जाते हैं। फिर अन्तर्मुहूर्त्त जितने थोड़े काल में ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय सरीखे उद्भट सुभट भी नाश को प्राप्त होते हैं और चेतनराज वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा अनन्त

सुख और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर चेतनराज का अक्षय, असीम और अनन्त सुख-साम्राज्य पर पूरा अधिकार हो जाता है अर्थात् मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है।

भगवान् महावीर ने साधु-अवस्था धारण कर ली थी किन्तु उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था। इस छद्मस्थ अवस्था में भगवान् बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक रहे थे। इस बीच एक बार उन्हें दो घड़ी की नींद आ गई थी। नींद में भगवान् ने दस स्वप्न देखे थे। उनमें एक स्वप्न यह भी था कि एक बड़ा भारी पिशाच है जिसे उन्होंने पछाड़ दिया है। इसका मतलब यही है कि सब से बड़ा और जबर्दस्त पिशाच मोह ही है। सारी दुनिया में इस मोहनीय की ही माया है। मोहनीय कर्म जबर्दस्त जादूगर है, जिसने प्राणी मात्र पर अपना भयानक जादू डाल रक्खा है। इसके असर से जीव आँख रहते अंधा और हाथ-पैर रहते भी लूला-लँगड़ा बना रहता है। मतलब यह कि दर्शनमोहनीय दृष्टि में ऐसा विकार पैदा कर देता है कि जीव सचाई को आंखों से देखता हुआ भी उस पर विश्वास न करके अंधा बना रहता है और चारित्र मोहनीय जीव को ऐसा निकम्मा कर देता है कि जीव चाहता हुआ भी आत्म कल्याण के पथ पर प्रगति नहीं कर पाता।

एक भाई से प्रश्न किया गया—क्यों भाई, व्याख्यान में क्यों नहीं आये? उत्तर मिला—बच्चा रोने लगा था! यह सब क्या है? मोह की ही तो महिमा है!

तलवार शरीर में घाव करती है, आग छाला पैदा कर देती है, और काँटा पैर में चुभ कर दर्द पैदा करता है। यह सभी

चीजें कष्ट-कारक हैं, मगर इनके द्वारा होने वाले कष्ट में मनुष्य को भान बना रहता है और उस भान से वह कष्ट निवारण के लिए समुचित प्रयत्न करता है। मगर मोहकर्म इन सब से विलक्षण है। वह प्राणी को बेभान बना देता है, उसकी विचार-शक्ति विकृत कर देता है और गलत विचार पैदा करता है, जिससे प्राणी अपने दुःखों और कष्टों को दूर करने के लिए उलटे उपाय काम में लाने लगता है। अर्थात् ऐसे उपाय काम में लाता है जिससे दुःख और कष्ट घटने के बदले और अधिक बढ़ते जाते हैं। मोहनीय कर्म की मार ऐसी विकट और दोहरी है। इसीलिए मोह का मदिरा की उपमा दी गई है और वह भी चन्द्रहास मदिरा की। चन्द्रहास मदिरा का नशा बड़ा खराब होता है। जो एक बार इस मदिरा को पी लेता है उसे छह महीने तक नशा बना रहता है।

चन्द्रहास मदिरा को साधारण आदमी नहीं पी सकते। इसे तो बड़े बड़े राजा ही पीते हैं और मस्ती में पड़े रहते हैं। उनका राज्य कार्य उनके दीवान वगैरह सँभाल लेते हैं। भगवान् ने मोहनीय कर्म को इस चन्द्रहास मदिरा की उपमा दी है। इस पर एक नजीर है और वह इस तरह है :—

एक राजा चन्द्रहास मदिरा पिया करता था। कामदार और रानी वगैरह को पता था कि राजा चन्द्रहास मदिरा पीते हैं। अतएव राजा जब मदिरा पीता तो वे उसे महल में ही रखते थे और कहीं बाहर नहीं जाने देते थे। होनहार की बात है कि राजा ने मदिरा पी ली और वह घोड़े पर सवार होकर सैर करने निकला। कामदार वगैरह ने बहुत रोका मगर उसने किसी की नहीं सुनी। साथ में कई आदमी थे, मगर राजा का

घोड़ा बहुत तेज था। सब आदमी पीछे छूट गये। राजा कुछ होश में था और कुछ नशे में था मगर थोड़ी देर के बाद ही वह नशे में चूर होगया और आगे चलता ही गया।

चलते-चलते जब राजा जंगल में पहुंचा तो उसे कंजरों का एक झुंड मिला। उन्होंने सोचा-घोड़ा कीमती है और इसके पास माल भी है। यहां कोई देखने वाला नहीं है। इसे पकड़ क्यों न लें?

कंजरों ने राजा का रास्ता रोका। उन्हें सामने देखकर राजा के हाथ से लगाम छूट गई। कन्जरों ने पूछा-तू कौन है?

प्रश्न का उत्तर देने की सुध ही किसे थी? राजा पागल अवस्था में ओ-आ-ओ-हो-करने लगा। कंजर समझ गये कि यह पागल है।

कंजर राजा को पकड़ कर अपने डेरे पर ले गये। सौ दो सौ कोस दूर ले जाकर उन्होंने घोड़ा बेच दिया और राजा को डेरे पर ही रख लिया। वे उससे काम भी कराते थे और न करता तो दो लकड़ियां भी जमा देते थे। कहां तो राजमहल में उत्तमोत्तम भोग भोगने वाला राजा और कहां कंजरों के डेरे में रहने और उनकी मार खाने की नौबत आ पहुंची! यह सब शराब का फल था!

तीन महीने तक नशा चढ़ता गया। इसके बाद उतार शुरु हुआ तो राजा मन से काम करने लगा। कंजरों ने देखा कि इसकी अक्ल ठिकाने आगई है तो एक लड़की के साथ उसकी शादी करदी। उसे गधों और भैंसों को इधर-उधर चरा लाने का काम सौंप दिया गया। इस प्रकार गधे और भैंस

चराते-चराते बहुत दिन हो गये । इस दरम्यान राजा की दाढ़ी और मूँछ खूब बढ़ गई थी और शरीर की आकृति भी बहुत खराब हो गई थी।

राजा का नशा और कम होगया तो उसे खयाल आया-अरे! यह सब क्या मामला है! मैं राजा और यह कंजर और यह गधे और पाड़े! इनके पाले में कैसे पड़ गया! राजा सब कुछ समझ गया पर उसने निश्चय किया कि अभी इनमें पागल की तरह ही रहना चाहिए। इन्हें मेरे राजा होने का पता चल गया तो मेरे प्राण लिये बिना नहीं रहेंगे।

इधर कंजरों को विश्वास हो गया कि यह अपने में मिल गया है और कहीं जाने वाला नहीं है। उधर राजा पहले दिन में जानवरों को चराने ले जाता था और अब पिछली रात को और फिर आधी रात को ले जाने लगा। एक दिन मौका पाकर वह आधी रात में वहाँ से भाग खड़ा हुआ और राहगीरों से रास्ता पूछकर अपनी राजधानी में आ पहुँचा। राजा जब पहुँचा तो दोपहर हो गई थी। उसने दिन में महल में जाना उचित नहीं समझा। जब अंधेरा काफी हो गया तो वह महल के द्वार पर पहुँचा। दरवाजे पर पहरेदारों ने उसे रोका, मगर बहुत कुछ कहने सुनने के बाद उसे भीतर जाने दिया गया।

इस घटना से राजा को ऐसी शिक्षा मिली कि उसने जीवन भर के लिए मदिरा पीने का त्याग कर दिया और उसने मदिरा के तमाम कारखाने नष्ट करवा दिये। ऐसा करके राजा आनन्द पूर्वक रहने लगा।

कई दिन बाद उन्हीं कंजरों का काफला झुंड के साथ उसी शहर में आया और राजा के महल की तरफ से निकला।

राजा को खिड़की में बैठा देखकर एक बुड्ढा कंजर बोल उठा ' देखो रे, यह बैठा है मेरी बेटी का धनी ! ' और तब दूसरे ने कहा-'हां हां, यही तो मेरा बहिनोई है' इस तरह कोई कुछ और कोई कुछ प्रलाप करने लगे।

राजा ने सोचा— 'यह वही कंजर हैं। अगर इन्हें तत्काल शहर से न निकलवा दिया तो गजब हो जायगा ! मेरी इज्जत धूल में मिल जायगी" ऐसा सोचकर राजा ने उन्हें शहर से बाहर निकलवा दिया।

भाइयो ! अब क्या राजा पर कंजरों का जोर चल सकता है ? राजा जब अपने आपे का भूला हुआ था तभी कंजरों का जोर चला। यह तो एक दृष्टान्त है। यह घटना हुई हो या न हुई हो, इससे क्या मतलब है? मगर इसके आशय पर आपको विचार करना चाहिये।

जातकमाला में मदिरा के सम्बन्ध में एक बहुत सुन्दर कथानक आया है। सर्वमित्र नामक एक राजा था। उसे मदिरापान का व्यसन लग गया। उसके सभासद् और परिजन भी इस व्यसन के शिकार हो गये। यह देखकर बोधिसत्व के अन्तःकरण मे बड़ी करुणा उपजी और उसने इस बुराई को दूर करने का उपाय सोचा। बोधिसत्व ने एक घड़े में मदिरा भरी और वह राजा के दरबार में आया। दरबार में आकर उसने कहा—है कोई इस घड़े का खरीददार जिसे परलोक के दुःखों की परवाह न हो और इस लोक की मुसीबतों की चिन्ता न हो, वही इस घट को खरीद ले !

बोधिसत्व की बात सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ। उसने कहा-तुम्हारे व्यापार का ढंग तो निराला ही है ! सभी

व्यापारी अपनी चीज के गुणों का बखान किया करते हैं और दोषों को छिपाने की चेष्टा करते हैं, पर तुम्हारा यह ढंग है! बताओ तो सही, घड़े में क्या चीज है? और इसके बदले में क्या देना पड़ेगा?

बोधिसत्व ने कहा—महाराज, सुनिये। इस घड़े में न गंगाजल है, न घी है और न दूध है। इसमें जो पापमय वस्तु भरी है उसके गुण सुनिये-इसमें ऐसी वस्तु है जिसे पीकर लोग धर्म-अधर्म का भान भूल जाते हैं और मनुष्य पशु की तरह विवेकहीन बन जाते हैं। इसमें वह चीज है जिसके सेवन से लोग निर्लज्ज हो जाते हैं, और बेसुध होकर गलियों में पड़े रहते हैं और कुत्ते उनका मुंह चाटा करते हैं! इस घड़े में ऐसी वस्तु है जिसके नशे में पत्नी पति की परवाह नहीं करती। इसमें वह चीज है जिसके प्रभाव से यादव लोग अपने भाईचारे को भूलकर आपस में लड़कर मर गये! यह धनवालों को कंगाल बनाने वाली, इज्जतदारों को बेइज्जत करने वाली और घर की सुख शान्ति को नष्ट करने वाली अनुपम वस्तु है। यह साक्षात् दरिद्रता का घर है, पापों की जननी है, मुसीबतों को बुलाने वाली है, पागलपन पैदा करने वाली है! इसके प्रभाव से पुत्र अपने माता-पिता के भी प्राण ले सकता है और घोर से घोर अनर्थ कर सकता है! संसार में इसका नाम 'सुरा' है। अगर आपको गुणों से प्रेम न हो और दुनिया भर के दोषों को आप प्यार करते हों तो इसे जरूर खरीद लीजिए। इससे आपका शील नष्ट हो जायगा यश नष्ट हो जायगा, लज्जा नष्ट हो जायगी, और आपकी बुद्धि मलिन हो जायगी। महाराज, इन सब गुणों को आप चाहते हों तो इसे खरीद लीजिए।

बोधिसत्व की बात सुन कर राजा को होश आया। उसने मदिरा के दोषों को समझ कर उसका त्याग कर दिया और बोधिसत्व को जागीर देने की इच्छा की। मगर बोधिसत्व ने जागीर लेने से इंकार करते हुए कहा महाराज मुझे जागीर की जरूरत नहीं है। आप मदिरा पीना छोड़ कर प्रजा के कल्याण में लगें और अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनावें. यही मेरे लिए बड़ा पुरस्कार है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान ही अनर्थकारी है। जैसे राजा मदिरापान करके अपने असली स्वरूप को भूल गया था, उसी तरह जगत् मोह में फँस कर अपने असली स्वरूप को भूल रहा है। आत्मा अपने सत् चित्-आनन्दमय स्वरूप को नही समझ पा रहा है, इसका प्रधान कारण मोह ही है। नशे का उतार आने पर जैसे राजा ने राहगीरों से रास्ता पूछा था, उसी प्रकार मोह जब मंद होता है तो जीव सद्गुरुओं से अपने कल्याण का मार्ग पूछता है। सद्गुरु उसे मोक्ष का मार्ग बतलाते है। सद्गुरु मोक्ष का क्या मार्ग बतलाते हैं:—

तुम अपने स्वरूप को विचार रे,
सब भ्रम को छोड़ छोड।
आतम-परमातम जाने नहीं,
या सम देव है माने,
अब जरा इसे पहचान रे,
सब भ्रम को छोड़ छोड ॥

भाई, अपने भ्रम को छोड़ दो और अपने स्वरूप को पहचानो। जहां तक राजा ने अपने स्वरूप को नहीं पहचाना,

वह कंजर बना रहा। इसी प्रकार जीव जब तक अपने स्वरूप को नहीं पहचानता है तब तक वह समझता है—मैं लुगाई हूं, मैं पुरुष हूं, मैं नपुंसक हूं, मैं पिता हूं, मैं पुत्र हूं, मैं क्रोध मान, माया, लोभ हूँ, इत्यादि। मगर ज्ञानी कहते हैं कि—हे चेतन! तू इनमें से कुछ भी नहीं है। न तू स्त्री है, न पुरुष है। न नारक है, न देवता है; न राजा है न रंक है। तू इन सब विभाव पर्यायों से अतीत है। तू अनन्त और असीम तेज का पुंज है। कोटि-कोटि सूर्य और चन्द्रमा तेरे उस महान् प्रकाश का मुकाबिला नहीं कर सकते। सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश जड़ है और तेरा प्रकाश चैतन्यमय है। सूर्य-चन्द्र का प्रकाश सीमित है और तेरा प्रकाश समस्त सीमाओं को लांघ कर अखिल विश्व को आलोकित करने की क्षमता रखता है। सूर्य-चन्द्र का प्रकाश कभी होता है, कभी नहीं होता, मगर हे चेतन! तेरा प्रकाश ध्रुव है, शाश्वत है, स्थायी है, अप्रतिघाती है, अक्षय है और अनन्त है। तू उस प्रकाश को भूल क्यों रहा है? अपना भ्रम दूर कर दे और अपने असली स्वरूप को पहचान ले। जब तक तू असलियत को नहीं पहचानेगा, सांसियों के चक्कर में पड़ा रहेगा।

रहने को मकान मिल गया और विवाह हो गया तो मनुष्य समझ लेता है कि चलो, सब सुख प्राप्त हो गये! लेकिन वास्तव में यह सब बंधन हैं। इन बंधनों में बंध कर मनुष्य अपनी स्वाधीनता गँवा बैठता है। इसका आशय यह नहीं समझ लेना चाहिये कि मनुष्य अविवाहित रह कर स्वच्छन्द होकर दुराचार में प्रवृत्त हो जाय! नहीं, सच्ची स्वाधीनता का यह मार्ग नहीं है। कहने का आशय यह है कि बंधनों से अलग होकर मनुष्य को आत्मा के असली

स्वरूप की खोज में लगना चाहिए। जिसके पास मकान नहीं है और जिसने स्वेच्छापूर्वक मकान का त्याग कर दिया है, वह अनगार कहलाता है। हमारे पास घर नहीं है तो बंधन भी नहीं है और हम जहाँ चाहते हैं वहीं विचरते हैं:—

म्हारे तो बताओ पंछीडा !
कठे थारो देश रे !

चेतनराम ! कहाँ है तेरा देश और क्या बनाया है वेश ! अरे, अपने स्वरूप को निहार, उसे पहचान और उसी को प्राप्त करने का प्रयास कर।

आतम अनातम मान लिया,
तुझे मिले गुरु अज्ञानी रे।
सब भ्रम को छोड़ छोड़।

कई लोग आत्मा को जड़ या भौतिक मानते हैं। उनका कहना है कि इस शरीर से अलग कोई आत्मा नहीं है। पृथिवी, पानी, आग, हवा और आकाश इन पाँच तत्त्वों के इकट्ठे होने से शरीर बन जाता है और इन्हीं पाँचों के मेल से उसमें चेतना शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जब शरीर का नाश होता है तो पृथ्वी पृथ्वी में, पानी पानी में और इसी प्रकार अन्य तत्त्व अपने-अपने में मिल जाते हैं। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने वाला कोई आत्मा पदार्थ नहीं है। नरक और स्वर्ग वगैरह भी कुछ नहीं हैं। इस प्रकार कहने वाले लोगों की दृष्टि इतनी स्थूल है कि वे अरूपी आत्मा को नहीं पहचान सके। वे भौतिक पदार्थों में ही फँस गये हैं और अपने

स्वरूप को भूल गये हैं। वे समझते हैं कि हम तो घड़ी की तरह हैं कई-एक पुर्जों के मिलने से बन जाती है और चाबी देने पर चलती है और चाबी खत्म होने पर बंद हो जाती है।

मगर ऐसा कहने वाले लोगों को समझना चाहिए कि घड़ी चाबी भरने पर चलती है सो तो ठीक, मगर वह चाबी भरने वाला कौन है ? घड़ी के पुर्जों को यथास्थान जोड़ने वाला कौन है ? चाबी भरने वाला और पुर्जों को जोड़ने वाला कोई जड़ पदार्थ नहीं हो सकता। वह तो कोई समझदार ज्ञानवान् ही हो सकता है। तो जैसे कारीगर के पुरुषार्थ से घड़ी बनती है, उसी प्रकार आत्मा के पुरुषार्थ से इस शरीर की रचना होती है। उस आत्मा को क्यों भूलते हो ?

इसके अतिरिक्त घड़ी चलती तो है मगर उसे यह नहीं मालूम होता कि अब कितने बजे हैं ? मगर आपको यह खयाल होता है कि मैं यह बोल रहा हूँ, यह काम कर रहा हूँ। ऐसी हालत में कैसे माना जाय कि जड़ पदार्थों के सिवाय और किसी वस्तु की सत्ता नहीं है ? आखिर हमें ज्ञान होता है और इससे यह सिद्ध है कि हमारे भीतर चेतनाशक्ति विद्यमान है। तो फिर यह भी सोचना चाहिए कि वह चेतनाशक्ति किसकी है ? चेतना एक प्रकार का गुण है और बिना गुणी के गुण कहीं रह नहीं सकता है। और जड़ पदार्थों में चेतना होती नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि चेतना जिसका गुण है, वह गुणी भी कोई होना चाहिए और वह गुणी ही आत्मा है।

कई लोग आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी उसके स्वरूप को उलटा मानते हैं। भारत में एक मत ऐसा

भी है जो ज्ञान और आनन्द को आत्मा का स्वरूप नहीं मानता। उनके कथनानुसार जब मुक्ति होती है तो आत्मा ज्ञानहीन और सुखशून्य बन जाता है। कोई आत्मा को क्षण-विनश्वर मानते हैं तो कोई नित्य मानते हैं।

इस प्रकार आत्मा के स्वरूप के संबंध में नाना प्रकार के भ्रम फैले हुए हैं। जब विद्वान् कहलाने वाले लोग ही भ्रम में पड़े हुए हों तो साधारण जनता की बात ही क्या है? इसी लिए कहा गया है कि—

तुझे मिले गुरु अज्ञानी रे!

जंगल में एक शेरनी रहती थी। उसके एक बच्चा था। शेरनी को किसी ने मार डाला। अकेला बच्चा रह गया। कोई भेड़ चराने वाला गड़रिया उसे उठा ले गया और पालने लगा। जब बच्चा कुछ बड़ा हुआ तो उसे कुत्ते की जगह समझ लिया। भेड़ों में रहते-रहते शेर का बच्चा अपने को भेड़ समझने लगा। वह मानने लगा कि यही मेरा परिवार है। मैं इनका हूँ और यह मेरी हैं।

एक दिन भेड़ें जंगल में गईं। वहाँ शेर मिल गया। शेर को देखकर और उसकी दहाड़ सुनकर भेड़ें भागीं और वह बच्चा भी उनके साथ भागा। कुछ दूर भाग कर भेड़ें एक नाले में पानी पीने लगीं। बच्चा भी पानी में घुसा। उसने आज तक अपने स्वरूप की ओर ध्यान नहीं दिया था। आज सिंह की विकराल मूर्ति देख कर उसका ध्यान अपनी ओर

गया। उसने पानी में अपनी जो परछाई देखी तो वह भेड़ों से निराली और सिंह के समान दिखाई दी। उसने सोचा—मैं इन भेड़ों के समान नहीं हूँ। मैं शेर के समान हूँ। जरा दहाड़ कर देखूं कि शेर की तरह दहाड़ भी सकता हूँ या नहीं? वह पूरी ताकत लगा कर जो दहाड़ा तो भेड़ें अपनी जान लेकर भागीं और गडरिया भी भय का मारा काँपने लगा। इस तरह उस बच्चे को अपने स्वरूप का भान हो गया। अब क्या वह भेड़ों में रह सकता था? नहीं।

हे चिदानन्दजी! आत्मारामजी! समझो, अपने स्वरूप को समझो! आज जो समझ तुम्हें मिली है, वह बड़े पुण्य के योग से मिली है। बार-बार ऐसा सुयोग नहीं मिलता। इसलिए अपने स्वरूप को समझो क्यों इन सांसियों के चक्कर में पड़े हो! क्यों कंजरों के टोले में पड़े हो!

राजा ने अपने स्वरूप को पहचाना तो वह दौड़ कर आ गया। जब ज्ञान हो जाता है तो मालूम पड़ता है कि-'बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः' अर्थात् यह सब कुटुम्ब-परिवार बंधन रूप है और इंद्रियों के विषय विष हैं! आत्मज्ञान हो जाने पर संसार का उत्तम से उत्तम समझा जाने वाला पदार्थ भी मनुष्य के चित्त को आकर्षित नहीं कर सकता। शास्त्रकार ने ज्ञानियों की विचारधारा का निरूपण इस प्रकार किया है:—

सव्वं विलवियं गीतं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥

—श्री उत्तराध्ययन.

अर्थात्-मनोरंजक समझो जाने वाली गान-तान विलाप-मात्र है, नाच खेल, कूद वगैरह विडम्बना मात्र हैं। बहुमूल्य आभरण भार हैं और ससार के समस्त कामभोग दुःख उत्पन्न करने वाले हैं।

इस प्रकार वास्तविक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य ससार के पदार्थों की वास्तविकता को समझ लेता है और अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप को भी समझ जाता है। ऐसी स्थिति में घर का त्याग करके अनगार पद को स्वीकार करता है धन-दौलत को लात मार कर अकिंचन बन जाता है, सगे-संबंधियों से ममता का नाता तोड़कर निर्ग्रन्थ बन जाता है, सब प्रकार के आरंभ-समारंभ का प्रत्याख्यान करके भिक्षु बन जाता है, आत्मा के कल्याण की साधना में तल्लीन होकर साधुपद प्राप्त करता है, कठोर तपस्या के श्रम को स्वेच्छापूर्वक अंगीकार करके श्रमण बनता है और तत्त्व के एवं परमार्थ के मनन में निमग्न होकर मुनि बन जाता है।

भाइयो, यह मुनि-अवस्था जिसने प्राप्त करली, समझ लो कि उसका परम कल्याण हो गया। मगर इसे प्राप्त करने के लिए मोह पर पूरी तरह विजय प्राप्त करनी पड़ती है। जो लोग मोह के वशीभूत हैं उन्हें यह आनन्दमय एवं आकुलता-रहित अवस्था प्राप्त नहीं होती। मोह की शक्ति इतनी प्रबल है कि कभी-कभी उसके प्रभाव से संसार त्याग देने वाले भी पतित हो जाते हैं।

मोह का आकर्षण कितना तीव्र होता है, यह दिखलाने के लिए एक कथा कहता हूँ। दो भाई थे। वे दोनों साधु थे।

बड़े भाई ने छोटे को, जिसका नाम भावदेव था, किसी प्रकार समझा-बुझा कर साधु तो बना लिया, मगर अधपरणी (वाग्-दत्ता) स्त्री पर उसका मोह रह गया। इस मोह के कारण वह पूरी तरह साधु की क्रिया का पालन नहीं कर सका।

बड़ा भाई अपनी साधना में निरत रह कर अन्त में स्वर्गवासी हो गया। अब वह अकेला रह गया। जैसे बिना अंकुश का हाथी जिधर चाहता है उधर ही चल देता है, वही दशा भावदेव की हुई। वह अपनी अधपरणी स्त्री नागला की खोज में निकल पड़ा भावदेव उसी ग्राम में आया, जहाँ नागला रहती थी। वहाँ पहुँच कर वह एक यक्षायतन में ठहरा। लोग दर्शन करने आये और जब नागला को पता चला तो वह भी आई। उसने मुनि को भावपूर्वक वन्दना करके कहा—"मुनिवर! धन्य घड़ी और धन्य भाग हैं जो आज आप पधारे और हमें दर्शन-देकर पवित्र किया।"

मगर मुनि 'दया पालो' कहना भूल गये और सोच-विचार में पड़ गये। नागला चतुर स्त्री थी। उसने पूछा-आप किस चिन्ता में पड़े हैं?

मुनि बोले—तुम समझदार हो और यह बतलाओ कि नागला कहाँ है? संभव हो तो उसे बुला लाओ।

नागला मन ही मन मुनि को धिक्कारने लगी। वह सोचने लगी-यही मेरे पूर्व-अवस्था के पति हैं। मोहनीय कर्म ने इन्हें मुनि की मर्यादा से पतित कर दिया है! आखिर नागला ने मुनि की नीयत बिगड़ने का कारण पूछा।

मुनि ने पिछला सब वृत्तान्त सुनाया। तब उसने कहा—मैं आपको नागला से मिला सकती हूँ; मगर अपनी मर्यादा में रहने का वचन दीजिये। ध्यान रखिए, वह भोग-विलास को जहर के समान समझती है। आप साधु होकर भी क्यों उस पर ललचा रहे हैं?

आखिर मुनि से वचन लेकर उसने अपने आपको प्रकट कर दिया। वह बोली—नागला मैं ही हूँ! अघपरणी छोड़ी हुई मैं ही हूँ।

मुनि को आश्चर्य हुआ। बोले-नागला तू है! तू कुरूपा है और वह बड़ी सुन्दर थी!

तब नागला ने कहा-मुझे एक सद्गुरु मिल गये थे। उनका पवित्र आचार और प्रभावशाली उपदेश सुनकर मैं उनकी चेली बन गई। उन्होंने बतलाया:—

यो शीलव्रत

महाराज शील की उपमा वरणीजी।

मैंने शीलव्रत धारण कर लिया है और शीलव्रत का रखवाला भी साथ ले लिया है। अर्थात् बेले-बेले पारणा शुरु कर दिया है और दूध दही घी, तेल और गुड़ का त्याग कर दिया है। मैं तभी से रूखा-सूखा आहार करती हूँ। इसी कारण मेरी यह शक्ल हो गई है। मैंने ब्रह्मचर्य की महिमा समझ ली है। अब मैं विषय-भोग में रचने वाली नहीं हूँ।

नागला की बात सुनकर मुनि की आँखें खुल गईं। उन्होंने पश्चात्ताप के साथ कहा-मैंने अपना जीवन मोहवश होकर

नष्ट कर दिया। तेरा जीवन धन्य है। और उसी दिन से मुनि ने अपना जीवन-व्यवहार बदल लिया। वे मासखमण की तपस्या करने लगे।

मोह की महिमा प्रबल है मगर आत्मा की शक्ति प्रबलतर है। मोह आत्मा को जीत सकता है तो आत्मा भी मोह को नष्ट कर सकता है।

जोधपुर,
ता० १४-८-४८

उसी दिन
से मानतुं

हि प्रबन्ध
भोर

सुकृत करलो !
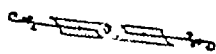
॥ स्तुति ॥

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए श्री मानतुंगाचार्य फरमाते हैं कि–प्रभो ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? लोकोत्तर शक्ति के धारक सुरेन्द्र असुरेन्द्र भी आपकी गुण–गाथा गाते–गाते थक गये, परन्तु आपके गुणों का पार न पा सके। ऐसी स्थिति में मेरे समान मानव की क्या बिसात है जो आपके सम्पूर्ण गुणों का वर्णन कर सके ?

देवाधिदेव ! जब आप ग्राम, नगर, पुर, पाटन आदि में विचरते थे तो देवगण सिंहासन साथ में लेकर चलते थे। वह सिंहासन बड़ा ही सुन्दर होता था। इस लोक में मनुष्य-कृत सिंहासन भी एक से एक बढ़ कर सुन्दर होते हैं तब भला देवनिर्मित सिंहासन का तो कहना ही क्या है ! वह

नाना प्रकार की उज्ज्वल और प्रकाशमान मणियों से निर्मित था। मणियों से निकलने वाली किरणें उस सिंहासन को झिलमिल-झिलमिल बना देती थीं। उस सिंहासन पर आपका स्वर्ण-वर्ण का देदीप्यमान शरीर अत्यन्त ही सुहावना प्रतीत होता था। उस समय की छटा अनोखी ही होती थी। दर्शकों को ऐसा प्रतीत होता था। जैसे ऊँचे उदयाचल पर अपनी समस्त किरणों से सुशोभित सूर्य का बिम्ब हो !

आचार्य महाराज ने यहां भगवान् के शरीर को सूर्य की उपमा दी है। अर्थात् जैसे उदयाचल पर्वत पर सूर्य शोभायमान होता है, उसी प्रकार सुरनिर्मित सिंहासन पर प्रभु का शरीर सुशोभित होता था। उदित होता हुआ सूर्य जैसे सुनहरे रंग का होता है, उसी प्रकार भगवान् का शरीर भी सुनहरे रंग का था। जैसे सूर्य तेजस्वी होता है वैसे ही भगवान् का शरीर तेज से परिपूर्ण था। सूर्य अन्धकार को नष्ट करता है और भगवान् के दर्शन मात्र से भव्य जीवों का मोह-अन्धकार नष्ट हो जाता था किन्तु सूर्य के बिम्ब में जो आभा होती है वह पुद्गल की आभा है और भगवान् का शरीर चेतन की आभा से भी सुशोभित था।

दीक्षा लेते ही भगवान् ने संसार के समस्त भोगोपभोग त्याग दिये थे। उन्हें सिंहासन या इस प्रकार की ऐश्वर्यसूचक किसी भी अन्य वस्तु की आकांक्षा नहीं थी। शास्त्र में कहा हैः—

जे य कंते पिये भोगे, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोगे, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥

—श्री दशवैकालिक अ. २ गा. ३

अर्थात् जो पुरुष कामना करने योग्य और प्रिय प्रतीत होने योग्य, प्राप्त हुए भोगों की ओर से भी पीठ फेर लेता है, उनसे विमुख हो जाता है और किसी के दबाव या विवशता से नहीं, किन्तु स्वेच्छापूर्वक भोगों का त्याग कर देता है वही त्यागी कहलाता है।

साधारण त्यागियों के लिए भी जब सांसारिक भोगोपभोगों के त्याग की शर्त अनिवार्य है तो तीर्थंकर त्यागी भोगोपभोगों का सेवन कैसे कर सकते हैं? वास्तव में भगवान् को सिंहासन की कामना नहीं थी। वे सिंहासन पर बैठने की इच्छा नहीं करते थे। किन्तु पूर्व जन्म में तपस्या कर के भगवान् ने जो तीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया था, उसी का यह फल था कि देवगण भक्ति से प्रेरित होकर इस दिव्य सिंहासन को उनके साथ लिये फिरते थे।

किसी भी पदार्थ की इच्छा होना अल्पज्ञता का कार्य है। अर्थात् जो अल्पज्ञ है, जो छद्मस्थ है, जिसकी आत्मा में मोहनीय कर्म द्वारा जनित विकार विद्यमान है, उसी को इच्छा होती है। इच्छा मोहनीयकर्म की एक प्रकृति है। सर्वज्ञता प्राप्त हो जाने पर मोह का कोई भी अंश मौजूद नहीं रहता और इसी कारण सर्वज्ञ में इच्छा या कामना भी नहीं रहती।

यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि अगर भगवान् को सिंहासन की इच्छा नहीं थी तो भगवान् ने देवों को मना क्यों नहीं कर दिया? इस प्रश्न का उत्तर बहुत गंभीर है। सच पूछिए तो इसका उत्तर पूरी तरह वही समझ सकता है

जिसने अपने जीवन में अच्छी साधना की हो या साधना के मर्म को भलीभाँति समझा हो फिरभी आप लोगों की जानकारी के लिए मैं इस विषय पर थोड़ा-सा प्रकाश डालने की कोशिश करता हूँ ।

आध्यात्मिक साधना की अनेक श्रेणियाँ होती हैं। साधना अपनी प्रारंभिक दशा में निर्बल होती है और फिर धीरे-धीरे उसे बल मिलता जाता है और अपनी अन्तिम स्थिति में वह पूरी तरह परिपक्व हो जाती है। राग और द्वेष रूप विकारों को जीतना ही साधना है। जितने-जितने अंशों में इन विकारों पर विजय प्राप्त होती जाती है, उतने ही उतने अंशों में साधना पूरी तरह पक जाती है अर्थात् पूर्णता पर पहुँच जाती है तो पूर्ण समभाव प्रकाशित हो जाता है।

जब साधक अपनी साधना की प्रारंभिक स्थिति में होता है तब उसमें पूर्ण रूप से समभाव नहीं जाग पाता। उसमें राग और द्वेष के, हर्ष और विषाद के, प्रसन्नता और उदासीनता के भाव जागते रहते हैं या अमुक-अमुक निमित्त मिलने पर जाग उठते हैं। जैसे-सुन्दर और सरस आहार मिलने पर प्रसन्नता होती है और किसी के द्वारा वन्दना किये जाने पर गौरव का भाव जाग उठता है। अपनी प्रशंसा होने पर प्रसन्नता उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार प्रतिकूल या अमनोज्ञ पदार्थों का निमित्त मिलने पर अप्रसन्नता या असन्तोष भी पैदा हो जाता है। मतलब यह है कि जैसे निमित्त मिलते हैं, वैसी ही भावना बन जाती है। यही कारण है कि साधक को ऐसे इष्ट और कान्त पदार्थों के संयोग

से बचना पड़ता है जिनसे हृदय में रागभाव उत्पन्न होने की संभावना हो। साधु के लिए ऐसे मकान में ठहरने की मनाई की गई है, जिसमें स्त्री का निवास हो। क्योंकि स्त्री के सान्निधान से चित्त में विकार उत्पन्न होने की संभावना रहती है। तो आशय यह है कि जब तक राग-द्वेष पर पूरी तरह विजय प्राप्त न हो जाय तब तक साधक को राग-द्वेष उत्पन्न करने वाले पदार्थों से बचने का प्रयत्न करना पड़ता है। ऐसा करते करते जब राग-द्वेष की जड़ पूरी तरह उखड़ जाती है और वीतराग दशा प्राप्त हो जाती है, तब कोई भी पदार्थ विकार उत्पन्न करने का निमित्त नहीं बन सकता। फिर कोई वन्दना करे या न करे, सुन्दर स्त्री सामने खड़ी हो, कोई स्तुति करता हो या गाली देता हो अथवा कैसी भी परिस्थिति हो, चित्त में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता। जो पूरी तरह वीतराग हो चुका है और जिसकी आत्मा में पूर्ण समभाव जाग उठा है, वह कैसे भी वातावरण में रहे, कैसे भी पदार्थों का उसे संयोग मिले उसकी आत्मा समभाव में ही स्थित रहती है। फिर उसे जानबूझ कर किसी वस्तु से दूर भागने की आवश्यकता नहीं रहती।

भगवान् ऋषभदेव को जब देवनिर्मित सिंहासन प्राप्त हुआ, तब वे पूर्ण वीतराग अवस्था प्राप्त कर चुके थे। मोहनीय कर्म को-पूरी तरह जीत चुके थे सिंहासन के प्राप्त होने पर भी उनकी आत्मा में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता था ऐसी स्थिति में सिंहासन का मिलना और न मिलना उनके लिए समान था। न उन्हें सिंहासन को स्वीकार करने की इच्छा थी और न उसका त्याग करने की

इच्छा थी। त्याग और ग्रहण-दोनों ही विषम भाव हैं। सम-भाव इन दोनों से ऊँची स्थिति है। भगवान् इस उच्चतर भूमिका पर पहुँच चुके थे। अतएव देवों को सिंहासन लेकर चलने की मनाई कैसे करते? जो सब प्रकार की इच्छाओं से अतीत हो चुका है वह मनाई करने की भी इच्छा कैसे कर सकता है? भगवान् ऋषभदेव सर्वज्ञ थे और सर्वज्ञ इच्छा से रहित होते हैं। इच्छा अल्पज्ञ को होती है।

सर्वज्ञानी के ज्ञान मे स्वतः ही समस्त पदार्थ झलकते रहते हैं। सोचना, विचारना, मनन करना, आदि पूर्ण ज्ञानियों का काम नहीं है। यह तो अल्पज्ञों का काम है।

भगवान् ऋषभदेव परमात्मदशा को प्राप्त हो चुके थे। परमात्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है:-

न बन्धो न मोक्षो न रागो न द्वेषः।
न योगो न भोगो न व्याधिश्च शोकः॥
न कामो न क्रोधो न माया न लोभो।
सच्चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम्॥

अर्थात्-परमात्मा वह है जिसमें न बंध हो, न मोक्ष हो, न राग हो, न द्वेष हो। जो इन सब अवस्थाओं से अतीत होकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और वीतराग हो चुका हो, वही परमात्मा कहलाता है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के कारण हैं। तेरहवें गुणस्थान में योग के अतिरिक्त कर्मबंध का

कोई कारण नहीं रहता। योग से सिर्फ प्रकृतिबंध और प्रदेश-बंध होता है, मगर कषाय के न रहने से आये हुए कर्म ठहर नहीं सकते और न अपना फल ही दे सकते हैं। अतः वहां नाम मात्र का कर्मबंध है। चौदहवें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाता है और वह नाम मात्र का कर्मबंध भी शेष नहीं रहता। तत्पश्चात् शीघ्र ही जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाने पर बंध की सभावना ही नही रहती। और जब बंध नहीं है तो मोक्ष किसका होगा? जो किसी बंधन में पड़ा हो उसी का मोक्ष होता है। आप कहते हैं—अमुकचन्दजी छूट गये! 'तो वे किसी न किसी वजह से बंद थे, तभी तो छूट गये कहलाते हैं। चाहे जेलखाने में हों, चाहे किसी रस्से से बँधे हों या किसी कोठरी मे घर रक्खे गये हों, मगर जब बंधन था तभी तो उनका छुटकारा हुआ! मगर भगवान् के बंध नहीं है। बंध नहीं है, इस कारण मोक्ष भी नहीं है।

इसी प्रकार भगवान् में न राग है और न द्वेष है। जो भक्ति करे उस पर प्रसन्न हो जाएँ और जो भक्ति न करे उस पर अप्रसन्न हो जाएँ तो समझना चाहिए कि राग द्वेष मौजूद हैं। जो लोग भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उसकी भक्ति करते हैं, वे रिश्वत देते हैं। वीतराग भगवान् ऐसी रिश्वत नहीं चाहते। लोभी और लालची हाकिम घूस खाकर खुश हो जाता है, परमात्मा ऐसा हाकिम नहीं है कि भक्ति की रिश्वत लेकर प्रसन्न हो जाय और भक्ति न करने वाले पर नाराज हो जाय।

मनुष्य अपने कल्याण के लिए भक्ति करता है, ईश्वर के

लिए नहीं करता है। राजी होना या नाराज होना अल्पज्ञों का काम है। सर्वज्ञ परमात्मा को कोई नमस्कार करे या न करे, उनका सब पर समभाव रहता है। जैसे आजकल भी अनेक ऐसे संतजन मौजूद हैं कि उन्हें कोई हाथ जोड़े तो खुश नहीं होते और हाथ न जोड़े तो नाखुश या नाराज नहीं होते। हम गोचरी के लिए कई गृहस्थों के घर जाते हैं। कोई आहार-पानी बहराते हैं और कोई नहीं बहराते। जो नहीं बहराता उसे हम कटु वचन नहीं कहते, उसके प्रति दुर्भाव भी नहीं लाते। जब हम भी ऐसा नहीं करते तो सर्वज्ञ ईश्वर कैसे किसी से नाराज हो सकता है? अगर भगवान् राग-द्वेष में फँस जाय तो वह अनन्त सुखमय न रह कर दुखी हो जायगा और जहाँ दुःख है वहाँ ईश्वरत्व नहीं है।

भगवान् न योगी हैं, न भोगी हैं। योग साधकदशा में होता है, मगर भगवान् सिद्ध हैं। उन्हें योग की आवश्यकता नहीं है। सिद्ध बनने के लिए ही आत्मा को साधना करनी पड़ती है। साधना एक साधन है और जब तक उद्देश्य सिद्ध नहीं होता तभी तक साधन का अवलम्बन लिया जाता है। भगवान् आत्मिक उन्नति की चरम सीमा को प्राप्त कर चुके हैं, उनकी समस्त स्वाभाविक शक्तियाँ खिल चुकी हैं। जैसे मेघ-हीन गगन में सूर्य अपने सहज प्रताप और प्रकाश से सुशोभित होता है उसी प्रकार परमात्मा का स्वरूप समस्त आवरणों से रहित होकर अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकाशवान होता है। ऐसी स्थिति में भगवान् योग से भी अतीत हो जाते हैं।

भगवान् भोगी भी नहीं हैं। संसार में कई तरह के भोग

है। पाँच इन्द्रियों के विषय काम-भोग कहलाते हैं। कान के द्वारा शब्द सुनना, नेत्रों से रूप को देखना और नाक से गंध सूंघना, यह तीन काम कहलाते हैं। और जीभ से रसों का आस्वादन करना और स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श-सुख का अनुभव करना भोग कहलाता है। भगवान् इन सब से परे पहुँच चुके हैं। वे कानों से शब्द नहीं सुनते, आँखों से रूप नहीं देखते, नाक से गंध नहीं सूँघते, जीभ से रस का आस्वादन नहीं करते और स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्शों का अनुभव नहीं करते। भगवान् समस्त वस्तुओं के स्वरूप को अतीन्द्रिय ज्ञान से जानते हैं और अतीन्द्रिय दर्शन से देखते हैं और उनमें पूर्ण रूप से उदासीन भाव धारण करते हैं। अगर भगवान् इन्द्रियों से इन विषयों को जानें तो वे भी साधारण पुरुषों की तरह भोगी हो जाएँ। फिर उनकी सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता चली जाय ! परमात्मा का स्वरूप समझाते हुए कहा गया है:—

बिन रसना के सब स्वाद चखे,
आखों बिन जग को देख रहा।
बिन कान सुने सबकी बातें,
बिन त्वचा स्पर्श को पेख रहा॥

ईश्वर की महिमा निराली है और अद्भुत है। वह जबान के बिना ही सब स्वाद जानता है। आँखों के बिना ही वह सारे जगत् को देख रहा है और स्पर्श किये बिना ही कोमल, कठोर, शीत, उष्ण आदि स्पर्शों को जान रहा है। इस प्रकार परमात्मा न योगी है और न भोगी है।

परमात्मा को किसी प्रकार की चिन्ता या फिक्र भी नहीं है। चिन्ता-फिक्र वह करता है जिसे कुछ काम करना शेष रह गया हो। परमात्मा कृतार्थ है, कृतकृत्य है; उसे कुछ भी करना बाकी नहीं रहा है फिर चिन्ता-फिक्र करने का प्रसंग ही क्या है? अगर परमात्मा को चिन्ता हो तो वह केवल ज्ञानी नहीं रहेगा। परमात्मा में क्रोध भी नहीं है। क्रोधी आत्मा परमात्मा नहीं कहला सकती। आत्मा और परमात्मा में सब से बड़ा जो अन्तर है वह यही कि आत्मा कषायजन्य विकारों से ग्रसित होता है और परमात्मा कषायों से तथा कषायजन्य विकारों से सर्वथा अतीत होता है।

एक बार हम एक गांव में गये। वहाँ एक ईसाई धर्म-प्रचारक आये हुए थे। लोगों ने आकर हमसे कहा-महाराज, यह पादरी साहब चमारों और ढेढ़ों को ईसाई बना रहे हैं और हिन्दूधर्म से विमुख कर रहे हैं। आप उपदेश देकर उन्हें बचाइए अन्यथा वे सब ईसाई होकर अपने धर्म से च्युत हो जाएँगे।

थोड़ी देर के बाद वह पादरी भी मेरे पास आये। वह कहने लगे—हमारा और आपका ईश्वर एक है।

मैंने उनसे कहा-आप अपने ईश्वर का स्वरूप तो समझते होंगे, मगर हमारे ईश्वर का स्वरूप आप नहीं समझते। समझते होते तो दोनों को एक न कहते। दोनों में बड़ा फर्क है। जब मैं साधु नहीं बना था तो मैं ईसाई स्कूल में पढ़ने जाता था और आपकी धर्म पुस्तक बाइबिल भी पढ़ता था। उसमें

एक जगह लिखा है कि एक बार ईसा मसीह को बड़े जोर से भूख लगी। उन्हें विचार हुआ कि फलां जगह एक गूलर का पेड़ है, अतः उसके फल खा लूँ। यह सोचकर वे वहाँ गये और गूलर के पास पहुँचे तो क्या देखते हैं कि गूलर में फल ही नहीं हैं। यह देखकर उन्हें बहुत बुरा लगा। उन्होंने कहा— दरख्त ! सूख जा। और वह दरख्त सूख गया।

यह सुनकर पादरी ने कहा-देखिए, हमारे ईश्वर की कैसी महिमा है !

मैंने कहा-आपके ईश्वर की महिमा पर फिर विचार करेंगे, पहले ईश्वर के स्वरूप पर तो विचार कर लें। पहली बात तो यह है कि आपका ईश्वर भूख से पीड़ित होकर गूलर खाने को तैयार हो जाता है। गूलर में जीव बहुत होते हैं और वे भी चलने फिरने वाले और उड़ने वाले होते हैं। वे जीव आँखों से दिखाई देते हैं। आपके ईश्वर को यह बात मालूम थी या नहीं ? अगर मालूम थी तो कहना चाहिए कि वह जान-बूझकर उन जीवों को, खाने के लिए तैयार हुआ था। एक विवेकवान् साधारण गृहस्थ भी आँखों देखते जीव जन्तुओं को भक्षण नहीं कर सकता और आपका ईश्वर उन्हें खा जाने को तैयार होता है तो आपका क्या दर्जा रहा ? कदाचित् आप यह कहें कि ईश्वर अनजान में गूलर खाने को तैयार हुआ तो उसको पूर्ण ज्ञानी कैसे कहा जा सकता है ? अजी पूर्ण ज्ञानी की बात तो दूर रही, जो बात साधारण आदमी देख सकते और जान सकते हैं, वह भी आपके

ईश्वर को नहीं मालूम होती तो फिर ईश्वर का ईश्वरपन कैसा है ?

दूसरी बात यह है कि अगर आपके ईश्वर पूर्ण ज्ञानी थे तो वह जहाँ खड़े थे वहीं क्यो नहीं मालूम हो गया कि गूलर के पेड़ में फल लगे है या नहीं लगे हैं ? फिर गूलर के पास तक पहुँचने की क्या आवश्यकता थी ?

और जब फल नहीं दिखाई दिये तो उन्हें पेड़ पर गुस्सा आ गया। अब स्वयं विचार कीजिए कि क्या गुस्सा आना मुनासिब था ? ईश्वर में क्रोध का सर्वथा अभाव होता है। क्रोध के बाहरी कारण हों या न हों, फिर भी ईश्वर को क्रोध नहीं आ सकता। क्रोध एक प्रकार का विकार है और जहाँ चित्त में दुर्बलता होती है, सहनशीलता का अभाव होता है और समभाव नहीं होता, वहीं क्रोध उत्पन्न होता है। आपके ईश्वर को क्रोध उत्पन्न हुआ तो वह विकारी सिद्ध होता है, उसमें मानसिक दुर्बलता साबित होती है और यह भी प्रमाणित होता है कि उसमें समभाव जागृत नहीं हुआ था-राग और द्वेष मौजूद थे। इसके अतिरिक्त वह क्रोध भी तो निष्कारण था। ईश्वर को अपने पास आता देखकर पेड़ अपने फलों को छिपा लेता या स्वयं खा जाता तो वह क्रोध किसी तरह क्षम्य भी समझा जा सकता था। मगर पेड़ ने ऐसा तो किया नहीं। पेड़ में पहले से ही फल नहीं थे और आपके ईश्वर ने उसमें फल समझ लिये। यह तो ईश्वर की ही समझ का दोष था। अपने दोष के लिए दूसरे को दोषी करार देना और फिर उस पर गुस्सा करना, उसे शाप देकर मार डालना कैसे

उचित कहा जा सकता है ? आपकी धर्म-पुस्तक के इस वर्णन से ईश्वर के स्वरूप का जो पता लगता है उससे तो यही मालूम होता है कि वह साधारण आदमियों से बढ़कर नहीं वरन् कई अंशों में उनसे भी गया-बीता था ! हम साधु और यहाँ तक कि कोई सद्गृहस्थ भी ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते। क्यों कि:—

संत खडे बाजार में, सब की चाहें खैर ।
न काहू से दोस्ती, न काहू से बैर ॥

हाँ, पादरी साहब, आपके ईश्वर में क्रोध का सद्भाव सिद्ध होता है और हम लोग अपने ईश्वर में क्रोध नहीं मानते । आपका ईश्वर पूर्ण ज्ञानी नहीं है और हमारा ईश्वर पूर्ण ज्ञानी है इस तरह और भी बहुत सी बातें हैं, मगर यहाँ विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है ।

मैंने वहाँ के लोगों से भी कहा-भाइयो ! तुम अपने धर्म को ठीक तरह पहचानो । सोना छोड़ कर पीतल और चांदी देकर रांगा खरीदने में कोई अक्लमंदी नहीं है । इस प्रकार उपदेश दिया और अपना काम किया । अभिप्राय यह है कि जहाँ क्रोध है वहाँ ईश्वरपन नहीं है ।

भगवान् मे मान भी नहीं है । जहाँ मान विद्यमान हो वह भगवान् नहीं हो सकता । कहा भी है:-

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छांड़िए, जब लागि घट में प्रान ॥

ईश्वर में अभिमान आ गया तो तुलसीदास के शब्दों में कहना चाहिए कि पाप का मूल आ गया। फिर ईश्वर का ईश्वरत्व कहाँ रहा ?

ईश्वर में कपट और लोभ भी नहीं हैं। कपट और लोभ आत्मा के शत्रु हैं और जहां इनका सद्भाव होता है वहां आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता।

एक भाई कहने लगे-परमात्मा सभी कुछ जानता और देखता है पर एक बात वह भी नहीं देखता है। उससे पूछा गया कि परमात्मा क्या नहीं देखता है ? उसने कहा-स्वप्न नहीं देखता है !

मैंने उस भाई से कहा-बात तो तुम्हारी ठीक है, किन्तु स्वप्न आता है नींद लेने वाले को और जो नींद लेता है उसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता। जब तक निद्रा का सद्भाव है, परिपूर्ण ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। फिर भी इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि परमात्मा से स्वप्न अज्ञात नहीं है। दुनिया जो स्वप्न देखती है, उसे परमात्मा अपने ज्ञान से अवश्य देखते हैं। आशय यह है कि परमात्मा से कोई भी बात छिपी नहीं है।

कई लोग कहते हैं कि ज्योतिषी लोग भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल की बात बतला देते हैं तो क्या वे भी भगवान् हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ज्योतिषी के और भगवान् के ज्ञान में बहुत अन्तर है। ज्योतिषी का ज्ञान श्रुतज्ञान है और भगवान् का ज्ञान केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान

इन्द्रिय, मन, शास्त्र आदि किसी भी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता। वह आत्मा से ही उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त केवलज्ञान देश और काल की सीमाओं से अतीत है। अमुक जगह तक की बात जानना और अमुक समय तक की बात जानना, ऐसी मर्यादा केवल ज्ञान में नहीं होती। वह तीनों लोकों और तीनों कालों की समस्त वस्तुओं को, स्थूल और सूक्ष्म भावों को स्पष्ट रूप से जानता है। अतएव केवलज्ञान प्रत्यक्षज्ञान है। श्रुतज्ञान में यह बात नहीं है। वह देश और काल की मर्यादाओं से बँधा हुआ है। बाह्य निमित्तों से ही उसकी उत्पत्ति होती है। अतएव वह परोक्षज्ञान कहलाता है। केवलज्ञान ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है, अतएव वह क्षायिकज्ञान है और श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है। केवलज्ञान कदापि मिथ्या नहीं हो सकता जब कि श्रुतज्ञान मिथ्या भी हो सकता है। मिथ्यात्व के संसर्ग से वह मिथ्या हो जाता है तथा बाह्य कारणों से भी उसमें मिथ्यापन आ जाता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार किया जाय तो साफ तौर से मालूम हो जाता है कि ज्योतिषी के ज्ञान में और परमात्मा के ज्ञान में कौड़ी और हीरे के समान अन्तर है।

जैसे हम लोग आगम के आधार से स्वर्ग, नरक, सुमेरु आदि दूर-दूर के पदार्थों को जानते हैं इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र में बतलाये हुए नियमों के आधार पर गणित आदि करके ज्योतिषी भूत-भविष्य की बात जानते और बतलाते हैं। यही कारण है कि जब गणना में भूल हो जाती है या किसी गलत नियम के आधार पर गणना की जाती है तो

ज्योतिषी की बात गलत भी हो जाती है। वास्तव में अल्पज्ञ नहीं जान सकते कि कल क्या होने वाला है? कहा भी है:—

जाने जाने है कौन जगत में, कल होने की बात ॥ ध्रुव ॥
ज्योतिषीजी ने लग्न देख कर, निज कन्या परणाई।
जाते सासरे विधवा होगई, दे भावी कौन मिटाई।
जाने जाने यह कौन जगत में कल होने की बात ॥

कौन जानता है कि कल क्या होने वाला है? क्या खबर है कि रात में ही कौन-सी घटना घट जाएगी? अरे, एक क्षण बाद का भी तो पता नहीं चल पाता! ज्योतिषीजी को ही देख लो—उन्होंने अपनी लड़की की सगाई करते वक्त कोई कसर नहीं रक्खो होगी। लग्न देखते समय भी ग्रह-गोचर आदि पर खूब मनन और चिन्तन करके ही लग्न का समय निश्चित किया होगा। लेकिन विवाह होने पर लड़की सुस-राल जाती है और जाते ही विधवा हो जाती है! इसका कारण क्या? और भी:—

वशिष्ठ ऋषि कहे लग्न बता, कल राम राज्य हो जावे।
उसी समय वनवास हुआ है, रामायण बतलावे ॥

महाराजा दशरथ अयोध्या के राजा थे। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न सरीखे प्रतापशाली उनके पुत्र थे। कौशल्या, सुमित्रा, और कैकेयी जैसी स्नेहशीला और उदार हृदय वाली उनकी रानियां थीं। उनका सारा परिवार मानों स्नेह और सहानुभूति में सराबोर था। सौतिया डाह का वहां प्रवेश

नहीं था। भ्रातृ-कलह की कल्पना भी नहीं जा सकती थी। सब प्रकार से आदर्श समझा जाने वाला उनका परिवार था। सब प्रकार का आनन्द छा रहा था।

एक वार ग्रामानुग्राम विचरते हुए मुनि अयोध्या में पधारे। महाराज दशरथ उनका उपदेश सुनने पहुँचे। और फिर—

मुनिराजों का धर्म सुनाना हुआ।
राजा दशरथ को वैराग्य आना हुआ॥

अयोध्या के लोगों को और महाराजा दशरथ को मुनिराज ने क्या उपदेश दिया और वह कितना प्रभावशाली रहा होगा, यह कौन कह सकता है? मगर जिस उपदेश को एक वार सुनते ही राजा दशरथ की आंखे खुल गईं, उन्हें अपने असली कर्त्तव्य का भान हो गया और जो राजसिंहासन त्याग कर भिक्षु बनने के लिए तैयार हो गये, वह उपदेश साधारण नहीं होगा। मुनिराज ने संसार के सुखों की क्षणभंगुरता दिखलाकर मानव-जीवन को सफल और कृतार्थ बनाने की प्रेरणा की होगी। उनका उपदेश प्रभावशाली साबित हुआ। दशरथ सोचने लगे-इस समय अच्छा अवसर है। तन और मन स्वस्थ है और पुत्र मेरे उत्तरदायित्व को सँभालने के योग्य हो गये हैं। ऐसे समय में ही आत्मा का हित कर लेना चाहिए। जो मनुष्य अवसर से लाभ नहीं उठाता और सुविधाओं का सदुपयोग नहीं करता, उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है और फिर पश्चात्ताप करने पर भी कोई लाभ नहीं होता।

राजा दशरथ इस प्रकार विचार कर राजमहल में आये। उन्होंने वशिष्ठ ऋषि और दूसरे पण्डितों को बुलवाया और कहा–मैं कल तपस्या के लिए जंगल में चला जाऊँगा। राम का राज-सिंहासन पर राज्याभिषेक करना है। अतः आप उत्तम मुहूर्त्त निकाल कर बतलाइए।

वशिष्ठजी ने ज्योतिष-शास्त्र का विचार करके मुहूर्त निकाल दिया। समस्त अयोध्या नगरी में बिजली की तरह यह सुखद समाचार फैल गया। सर्वत्र आनन्द, उत्साह, प्रमोद और प्रसन्नता की लहरें दौड़ने लगीं। घर २ में खुशियाँ मनाई जाने लगीं और राजमहल में अभिषेक की तैयारियाँ होने लगीं!

मगर होनहार टाले नहीं टलता। नियति का विधान अपरिवर्तनीय है। भवितव्य का आदेश अटल है। नगरी की चहल-पहल देख कर और राम के राज्याभिषेक का संवाद सुनकर मंथरा दासी कैकेयी के पास पहुँचती है और राजा दशरथ, महारानी कैकेयी, और राम के विरुद्ध उसकी भावना को भड़का देती है। पहले तो कैकेयी उसे फटकारती है, मगर फिर वह भी होनहार के अधीन हो जाती है। मंथरा की सलाह से कैकेयी भरत को राज्य और रामचन्द्र को वनवास माँगती है।

यह संवाद सुनकर भरत को मार्मिक चोट पहुँचती है। वह कहते हैं—नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। रामचन्द्र बड़े भाई हैं और मैं छोटा हूँ, उनका सेवक हूँ। मैं सेवक ही

रहूँगा। मेरी माता भूल कर रही है। रघुनन्दन के रहते राज-सिंहासन पर बैठना मेरे लिए कलंक की बात है। उधर राम-चन्द्र को जब यह समाचार मिलता है तो वनवास की कल्पना से उन्हें प्रसन्नता होती है। भरत को राज्य मिलने की बात से वह अप्रसन्न और असन्तुष्ट नहीं होते। अपने छोटे भाई के उत्कर्ष से उन्हें हार्दिक संतोष होता है और वे वनवास के लिए तैयार हो जाते हैं।

दशरथ के परिवार पर आप दृष्टि डालेंगे तो प्रतीत होगा कि सारा का सारा परिवार आदर्श विचारों से परिपूर्ण है। वह परिवार भारतवर्ष का एक आदर्श परिवार है। एक दूसरे के प्रति कितनी ममता, कितनी आत्मीयता और कैसी हार्दिक प्रीति है! कैकेयी यद्यपि इसका अपवाद है मगर वह भी थोड़ी ही देर में होश में आ जाती है और अपने किये पर पश्चात्ताप करती है। भाइयो, अगर आज राम-लक्ष्मण की तरह आप भाई-भाई से प्रेम करना सीखें तो आपका परिवार स्वर्ग के समान सुखदायी हो जाय। और बहिनें अगर कौशल्या का अनुकरण करें तो उनका जीवन शान्तिमय, सुखमय और धर्ममय बन जाय।

हाँ तो कहने का आशय यह है कि वशिष्ठजी ने राम को गादी पर बिठाने का समय निकाला और उसी समय पर उन्हें वनवास के लिए जाना पड़ा! और भी कहा है:—

राजमती हर्ष धर बोली, बनूं नेम पट नार।
क्वाँरी रहकर बनी साध्वी, भावी के अनुसार॥

राजीमती राजा उग्रसेन की दुलारी राज कन्या थी। उसकी बड़ी बहिन सत्यभामा का विवाह श्रीकृष्ण के साथ हुआ था। राजीमती सर्वगुणसम्पन्ना और असाधारण रूप-श्री से सम्पन्न थी। उसका शरीर बिजली की तरह चमकता था। वह प्रचुर पुण्य-राशि लेकर जनमी थी। श्रीकृष्णजी के छोटे भाई और बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथजी के साथ उसका विवाह होना निश्चित हुआ। यथासमय बरात रवाना हुई। राजीमती की प्रसन्नता का पार न था। उसके हृदय में आनन्द की हिलोरें उठ रही थीं। भला नेमिनाथ जैसे पुरुषोत्तम जिसे पति के रूप में प्राप्त हो रहे हों, उसे प्रसन्नता क्यों न हो? सर्वत्र मंगलगान हो रहा था। द्वार-द्वार पर वंदनवार बंधे थे। आनन्द और प्रमोद का सागर लहरा रहा था।

किन्तु 'भवितव्यं भवत्येव।' नियति कुछ और ही करने वाली थी और वही होकर रहा। नेमिनाथ ज्यों ही तोरण के निकट पहुँचते हैं कि पास ही में एक बाड़े में बन्द किये हुए पशुओं पर उनकी दृष्टि जाती है। पशुओं की करुण ध्वनि नेमिनाथ के कोमल कलेजे में आघात पहुँचाती है। और उनकी अभिलाषा समझ कर सारथी पशुओं को बंधन मुक्त कर देता है। सारथी के इस कार्य पर नेमिनाथ उसे अपने आभूषण इनाम के रूप में देते हैं और विवाह किये बिना ही वापिस लौट आते हैं। इस प्रकार राजीमती सोचती थी कि मैं रानी बनूंगी, पर बनना पड़ा साध्वी! कहो, कौन जानता था कि यह घटना घटने वाली है!

आठवाँ चक्रवर्ती संभूम हुआ है। चक्रवर्त्ती छह खंड भरत

क्षेत्र के स्वामी होते हैं। संभूम ने भी छहों खंडों पर अपनी विजयपताका फहराई और एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। मगर उसकी तृष्णा पूरी नहीं हुई। वह आगे के प्रदेश पर विजय प्राप्त करने की लालसा से समुद्र में जहाज लेकर चला। वह विजय के सपना देख रहा था कि जहाज समुद्र के अतल जल में विलीन हो गया और संभूम मर कर नरक का मेहमान बना।

यह सब उदाहरण एक ही बात साबित करते हैं कि मनुष्य इतना पामर प्राणी है कि उसे अगले क्षण का भी पता नहीं चलता। वह हवाई किले बनाया करता है, मंसूबों के पुल बांधा करता है, मन के लड्डू खाया करता है और भविष्य के सुनहरे सपने देखा करता है, मगर भविष्य उस के हाथ में नहीं है। संसार में बड़े-बड़े शक्तिशाली पुरुष हो गये हैं, मगर काल पर किसी का जोर आज तक नहीं चला! भगवान् महावीर जैसे अद्वितीय महापुरुष भी एक क्षण अपनी आयु नहीं बढ़ा सके तो औरों का कहना ही क्या है!

लोग कहा करते हैं, कल यह होगा, वह होगा, अमुक काम करूँगा और एक वर्ष बाद फलां काम करना है! कितना अज्ञान है! जिसे दूसरे क्षण होने वाली घटनाओं का भी पता नहीं, वह वर्षों और युगों का कार्यक्रम बनाने बैठता है!

कल यह होगा कल यूं होगा, क्यों तू मिथ्या ताने।
कल की होनी को तो वोही, पूरण ज्ञानी जाने॥

दोहा—: कबीर कबरा दूर है, बीच खड़ी है रात।
न जानूँ क्या होयगा, उगते परभात ॥
कूड़ी कथी कबीरजी, ऐसी कथे न कोय।
घड़ी पलक के मांयने, न जानूं क्या होय ॥

हे मनुष्यो ! तुम्हें अपूर्व अवसर मिला है। इस संसार में असंख्य प्रकार के कीट-पतंग और जीव-जन्तु हैं। उन सब में उत्तम स्थिति मनुष्य की है। इस सर्वोत्तम स्थिति को प्राप्त करके अपने जीवन को धन्य बना लो, सफल कर लो। यह स्थिति बार-बार प्राप्त होने वाली नहीं है। मगर, यह मत भूल जाना कि धन के भंडार भर लेने से जीवन धन्य नहीं होगा प्रतिष्ठा और परिवार बढ़ा लेने से भी जीवन सफल नहीं बनेगा। जीवन की सार्थकता किसमें है ?

खबर नहीं या जग में पल की रे। २ ॥
सुकृत कर लो वीर सुमिर लो, कुण जाने कल की ॥

सुकृत करने में ही जीवन की सार्थकता है। अनादि काल से आत्मा को विकार युक्त और मलिन बनाये रखने वाले अज्ञान और मोह को कम करने का प्रयत्न करो। पापों से अपने आपको बचाओ और दया, क्षमा, परोपकार आदि पुण्य कर्त्तव्यों में लग कर तप और संवर से अपनी आत्मा को पवित्र बनाओ। इस जगत् में एक पल भर की भी खबर नहीं है। जो सुकृत आज हो सकता है उसे कल के लिए मत छोड़ो और जिस धर्माराधना को इसी क्षण कर सकते हो उसे अगले

क्षण के लिए मत छोड़ो। इस जीवन में कल आयगा या नहीं यह कौन जानता है? देखते नहीं हो कि बहुत से मनुष्य बैठे-बैठे कुछ ही सैकिंडों में चल बसते हैं। हृदय की गति अचानक रुक जाती है और मनुष्य के सारे मनोरथ धूल में मिल जाते हैं। यह सब आंखों देखते हुए भी अपने को अमर समझ रहे हो! भाइयो, इस भ्रम को त्यागो और अपने कर्त्तव्य का विचार करो। आज तुम्हें जो उत्तम सामग्री मिली है, उसे वृथा मत गंवाओ।

भावदेव की कथा—

नागला चाहती तो अपने मन को समझा सकती थी कि पहले संसार के भोग भोग लूँ और फिर जीवन के अन्तिम समय में धर्म की आराधना कर लूँगी। पर उसने ऐसा नहीं सोचा। उसने भविष्य पर निर्भर न रहकर वर्त्तमान को ही सुधारने का प्रयत्न किया। वह अपने धर्म पर निश्चल रही तो भावदेवजी का जीवन भी पवित्र हो गया। इस प्रकार नागला ने अपने पति को रास्ते लगा दिया और अपने घर आ गई। वह तपस्यामय जीवन व्यतीत करती हुई अन्त में स्वर्ग में गई और फिर मोक्ष प्राप्त करेगी।

उधर भावदेव मुनि भी तप और संयम की आराधना करने लगे। उनके अन्तःकरण से मोह का काँटा निकल चुका था अतएव शल्यरहित होकर वे मुनि की चर्या में सावधान रहे। आखिर समय में अनशन करके और शरीर का त्याग करके वे भी स्वर्ग सिधारे।

स्वर्ग के सुखों को भोगने के पश्चात् आयु पूर्ण होने पर भावदेव मुनि का जीव महाविदेह क्षेत्र में, वीतशोका नामक नगरी में, पद्मरथ राजा की रानी वनमाला की कूँख से पुत्र के रूप उत्पन्न हुआ। राजा के घर पुत्र उत्पन्न हो तो फिर कहना ही क्या है ? खूब खुशियाँ मनाई गई। सारी नगरी हर्षमय हो उठी। घर-घर मे आनन्द और उत्साह के साथ जन्मोत्सव मनाया गया।

बारहवें दिन अशुचि-निवारण करके नवजात शिशु का नाम 'शिवकुमार' रक्खा गया। धीरे-धीरे कुमार वृद्धि को प्राप्त हुआ और यथासमय उसका विवाह कर दिया गया।

एक दिन की बात है। कुमार अपनी पत्नियों के साथ एक कमरे में आनन्द कर रहे थे कि झरोखे में से एकाएक उनकी दृष्टि सड़क पर पड़ी। कुमार ने देखा कि कड़ाके की धूप में जब कि जमीन तवे की तरह तप रही है, नंगे पाँव और नंगे सिर एक मुनिराज चले जा रहे हैं। उनके चेहरे पर परेशानी अथवा विवशता का कोई भाव नहीं है।

साधु का यही आचार है। सर्दी हो या गर्मी हो, उन्हें नंगे पैर और नंगे सिर ही चलने का विधान है। एक बार मैं उदयपुर में था। महाराणा फतहसिंहजी साहब का एक कर्मचारी मेरे पास आया और कहने लगा कि महाराणा साहब ने उपदेश सुनने के लिए आपको याद फर्माया है। यह संदेश सुनकर मैं अपने कुछ साधुओं के साथ रवाना हो गया। मैं वहां पहुँचा तो महाराणा ने चकित होकर कहा—आप इस कड़ाके की धूप में

क्यों पधारे ? इस प्रकार तो हम नहीं बुलाएँगे ! तब मैंने उनसे कहा-हम साधुजन सर्दी-गर्मी से नहीं डरते। डरें तो विहार कैसे करें ? इसके अतिरिक्त भगवान् महावीर स्वामी का फर्मान है कि:-

आयावयाही चय सोगमल्लं,
कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं।

दशवै. अ. २ गा ४

भगवान् फरमाते हैं कि-हे साधक, तू अपने आप को तपा, कष्ट सहन कर। सुकुमारता का परित्याग कर। जो सुकुमार होगा वह कठोर साधना को सहन नहीं कर सकेगा और कठोर साधना के बिना परिपूर्ण आत्म शुद्धि नहीं हो सकती। और इस प्रकार की साधना करते हुए भी किसी भी प्रकार की कामना को अन्तः करण में स्थान न दे। हे साधु ! अगर तू ने इतना कर लिया तो समझ ले कि तेरे समस्त दुःखों का अन्त आ गया है।

तो राजकुमार शिवकुमार ने जिन मुनि को मध्याह्न की झुलसा देने वाली गर्मी की परवाह न करते हुए सड़क पर जाते देखा था, वे भी इसी प्रकार की साधना में जुटे हुए थे। उन मुनि को जाते देख शिवकुमार तत्काल राज महल से निकलकर बाहर आया और मुनि के निकट पहुँचा। उसने मुनि के चरण कमलों में श्रद्धा और भक्ति के साथ मस्तक नमाया। तत्पश्चात् उसने कहा-भगवन् ! कहाँ आपका यह उदीयमान जीवन और कहां यह कठिन साधना !

आप इस नवयौवन-अवस्था में साधु क्यों बने हैं ? आपने कुटुम्ब-परिवार का परित्याग क्यों कर दिया है ?

मुनिराज के चेहरे पर शिवकुमार का प्रश्न सुनकर एक हल्की और गंभीर स्मित की रेखा खिंच गई । फिर गंभीर ध्वनि में वह कहने लगे—राजकुमार, यौवन अवस्था और मुनि-अवस्था में क्या कोई असंगति आपको दिखाई देती है ? युवावस्था जीवन का मध्याह्न है। जैसे मध्याह्न में सूर्य प्रखर और परिपूर्ण तेज से दीप्त होता है, उसी प्रकार युवावस्था में मनुष्य की समस्त शारीरिक और मानसिक शक्तियां खिली हुई होती हैं। अतएव यह तो निर्विवाद है कि जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए यही सबसे अधिक उपयुक्त समय है। यह तो आप मानते हैं न ?

राजकुमार-जी हां, सत्य है ।

तब मुनि बोले-अब प्रश्न यह है कि जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य क्या है ? इस प्रश्न के अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार अनेक उत्तर हो सकते हैं। कोई धनवान् बनना, कोई यश को प्राप्त करना, कोई विशाल साम्राज्य को प्राप्त करना और कोई किन्हीं अन्य भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करना महत्त्वपूर्ण मान सकता है। पर थोड़े से विवेक के साथ अगर विचार किया जायगा तो स्पष्ट प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगा कि इन सब पदार्थों को प्राप्त करना जरा भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। जो वस्तुएँ इसी जीवन के अन्त में अलग हो जाती हैं, जिनका आत्मा के साथ कुछ भी संबंध नहीं रह जाता है और अन्तिम जीवन में जिनका छूट जाना अनिवार्य है, वही वस्तुएँ

प्राप्त करना क्या जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हो सकता है? कदापि नहीं। महत्त्वपूर्ण कार्य है अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाना; और आत्मा को कल्याण के उस मार्ग पर ले जाना कि फिर कभी अकल्याण से भेंट ही न करनी पड़े। राजकुमार, यही मैं कर रहा हूँ।

यह आत्मा अनादि काल से भोग भोग रहा है किन्तु आज तक तृप्त नहीं हुआ। भोग में तृप्ति है ही नहीं। तृप्ति आत्मा में है। उसे ही जगाने का प्रयास मैं कर रहा हूँ। रही कुटुम्ब-परिवार को त्याग देने की बात। सो एक-एक आत्मा के अनन्त-अनन्त परिवार हो चुके हैं। संसार में कोई ऐसा जीव नहीं है कि जिसके साथ सभी प्रकार के नाते न जुड़ चुके हों। ऐसी स्थिति में किसे कुटुम्बी समझा जाय और किसे पराया माना जाय? वास्तव में कुटुम्ब परिवार किसी का नहीं है। इस संबंध मे एक दृष्टान्त लीजिए:—

किसी गांव में दो दोस्त थे। एक सत्संग में जाता था और दूसरा इन बातों में श्रद्धा नहीं रखता था। एक वार दोनों मित्र मिले और सत्संगी ने कहा-मित्र! धर्म की तरफ कुछ लक्ष्य दो। जगत् तो मिथ्या है! तुम परिवार में ही भूले रहते हो और आत्मा की ओर ध्यान ही नहीं देते! आखिर धोखा खाओगे।

दूसरा मित्र-आपका खयाल गलत है। मेरे कुटुम्बी मेरे पीछे मरने को तैयार हैं!

पहला मित्र-नहीं, मैं सही कहता हूँ। परीक्षा करके देखना हो तो उपाय मैं वतला सकता हूँ।

दूसरा-परीक्षा करने मे हर्ज ही क्या है।

पहला-तो मैं तुम्हें सांस रोकना सिखलाता हूँ। तुम सांस रोक कर घर पर सो जाना। उसके बाद के काम तू स्वयं आखों से देख लेना।

दूसरे मित्र ने ऐसा ही किया। वह घर जाकर और बीमार बन कर सोगया। माँ-बाप और दूसरे कुटुम्बी लोग इकट्ठे हुए। सब रोने लगे। इसके मित्र को बुलाया गया और कहा गया कि अगर यह अच्छा न हुआ तो तुम्हें भी इसी के साथ जला देंगे।

उसने कहा-मैं अच्छा कर दूँगा। इसे बड़ा भूत लगा है। इस पर हनुमान की चौकी चढ़ेगी। इसलिए अढ़ाई सेर दूध में मेवा डाल कर उसे खूब औटाइए।

दूध औटाया गया। तब उसने सबको बाहर निकाल दिया। अकेले में उसने अपने मित्र से कहा-अब आगे का हाल देखना। इतना कह कर उसने उस दूध पर पिसी हुई हरी मेथी का चूरा भुरक दिया। फिर बाहर आकर कहा—बीमार के शरीर का सारा जहर इस दूध में आ गया है। अगर बीमार को जिंदा करना चाहते हो तो इसे पीलो। मगर एक बात समझ लेनी चाहिए कि जो इसे पीएगा वह जीवित नहीं रहेगा। यह भयंकर सवाद सुन कर सब कुटुंबी लोग सन्नाटे में आ गये! भला मरने को कौन तैयार होता? बूढ़ा बाप कहने लगा-मेरे हाथ का लेन-देन बहुत है। मैं मर गया तो सारी पूंजी डूब जायगी और सभी को दुःख हो जायगा। इसी प्रकार माता ने, भाई ने और स्त्री ने अलग-अलग बहाने बता

कर इंकार कर दिया। तब उस मित्र ने कहा-अच्छा, मैं ही इसे पी लेता हूँ और अपने मित्र के लिए अपने प्राण त्यागता हूँ।

इतना कहकर उसने वह दूध पी लिया और जान-बूझकर धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ा। पहला मित्र उठ बैठा।

फिर दोनों मित्र मिले। पहले ने कहा—भाई, तुम्हारा कहना यथार्थ था। वास्तव में सारा संसार स्वार्थी है। कुटुम्ब-परिवार के मोह में पड़कर मनुष्य वृथा ही अपनी आत्मा का अकल्याण करता है। ज्ञानी जन ठीक ही तो कहते हैं:—

सब मतलब को संसार तेरा तो कोई नहीं।

यह सब जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है। यह सुनकर वह मित्र भी सत्संग में जाने लगा और धनवान् होने के कारण दान देकर परोपकार करने लगा।

राजकुमार शिवकुमार मुनि की यह वैराग्यपूर्ण उक्ति सुनकर क्या सोचता है और क्या करता है, यह सब आगे देखा जायगा। अलबत्ता, आपको मुनि के वचनों पर गहराई से विचार करना चाहिए और सोचना चाहिए कि आपके जीवन का ध्येय क्या है? इस जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य क्या है? जब आपको इस प्रश्न का उत्तर मिल जाय तो भविष्य पर निर्भर न रह कर अपनी शक्ति के अनुसार कल्याण की साधना करने में उद्यत हो और अपने जीवन को सफल बनाएँ।

जोधपुर
ता० १५-८-४८

विनयः महान् धर्म
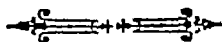
॥ स्तुति ॥

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभम्,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥

भगवान् ऋषभदेव की अत्यन्त ललित और हृदयग्राही शब्दों में स्तुति करते हुए आचार्य महाराज ने चामर रूप प्रातिहार्य का वर्णन किया है।

पहले बतलाया जा चुका है कि भगवान् आदि नाथ का शरीर स्वर्णवर्ण का था और उस शरीर की अवगाहना पाँच सौ धनुष की थी। भगवान् के शरीर की इन दोनों विशेषताओं की तुलना यहाँ सुमेरुपर्वत के स्वर्णमय ऊँचे शिखर के साथ की गई है। भगवान् का शरीर सुमेरु के शिखर के समान है। जब भगवान् समवरण में विराजमान होते थे और धर्मोपदेश देते थे तो उनके दोनों तरफ कुन्द के पुष्प के समान शुभ्र और सुन्दर चँवर स्वतः ही दुरते रहते थे। उन चामरों से

भगवान् के शरीर की सहज शोभा और भी अधिक बढ़ जाती थी। उस समय की छटा एकदम अनूठी होती थी। उस शोभा का वर्णन करने के लिए शब्द समर्थ नहीं है। उस शोभा का अगर थोड़ा-बहुत वर्णन किया जा सकता है तो एक उपमा के द्वारा ही किया जा सकता है। उन धवल, निर्मल और चंचल चामरों से शोभायमान भगवान् का शरीर ऐसा जान पड़ता था, जैसे सुमेरु पर्वत के सुनहरे तट पर उदीयमान चन्द्रमा के समान स्वच्छ झरने के पानी की धारा बह रही हो!

भगवान् ने जन्म-जन्मान्तर में साधना करके उसके फल-स्वरूप जो तीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया था, उसी के प्रभाव से उन्हें यह अतिशय प्राप्त हुआ था। यह अतिशय भगवान् का बाह्य अतिशय है और इससे पुण्य की महती महिमा प्रकट होती है। नैसर्गिक भक्ति से प्रेरित हुए देवों द्वारा यह अतिशय प्रकट किया गया था। दोनों ओर दो स्वच्छ चामर मानों भगवान् के निर्मल दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के प्रतीक हैं। बाहर दोनों चामर भगवान् की महिमा को प्रकट करते हैं तो भीतर दोनों क्षायिक उपयोग भगवान् की आत्मिक महत्ता को प्रकाशित करते हैं। इन आन्तरिक अतिशयों में ही भगवान् की वास्तविक महिमा है।

बहुत से लोग चमत्कार को नमस्कार कह कर चमत्कारों के सामने अपने आपको समर्पित कर देते हैं। वे बाह्य ऋद्धि को ही आत्मा के उत्कर्ष का चिन्ह समझ लेते हैं और जो बाह्य ऋद्धि दिखला सकता है उसे ही भगवान् या सिद्ध पुरुष मान लेते

है। मगर यह विचार भ्रमपूर्ण है। बाह्य चमत्कार आध्यात्मिक उत्कर्ष का चिह्न नहीं है। और जो जानबूझ कर अपने भक्तों को चमत्कार दिखलाने की इच्छा करता है और दिखलाता है, समझना चाहिए कि उसे सच्ची महत्ता प्राप्त नहीं हुई है। जैन धर्म ने सच्चे देव का लक्षण बतलाते हुए कभी बाह्य चमत्कारों की बात नहीं कही है। जैन शास्त्रों का साफ साफ विधान है कि जिसमें सर्वज्ञता और पूर्ण वीतरागता प्रकट हो गई हो वही सच्चा देव है, फिर उसके साथ बाह्य चमत्कार हो चाहे न हो। प्रखर तार्किक आचार्य समन्तभद्र ने तो स्पष्ट ही कह दिया है:—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥

आचार्य अपनी मनोभावना द्वारा भगवान् को सामने समझ कर कहते हैं, आपकी सेवा के लिए देवगण आया करते हैं, आकाश में आप गमन करते हैं और चामर आदि विभूतियां आपको प्राप्त हैं, इसी कारण आप हमारे लिए पूजनीय नहीं हैं। यह सब विशेषताएँ आपकी आप्तता या भगवत्ता को सूचक नहीं हैं, क्योंकि यह तो मायावी लोगों में भी पाई जाती हैं। इन विभूतियों के कारण जो आपको पूज्य समझेगा, वह मायावियों को भी पूज्य समझ लेगा। अतएव इन विभूतियों के कारण मैं आपको भगवान् मानने के लिए तैयार नहीं हूं।

अन्त में आचार्य ने कहा है कि ज्ञानावरण आदि आवरणों और मोह आदि दोषों का अत्यन्त-सर्वथा विनाश हो जाना

ही भगवान् की कसौटी है। जो इस कसौटी पर खरा उतरे उसे ही भगवान् के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि चामर आदि अतिशय भगवान् के द्वारा उपार्जित सर्वोत्कृष्ट पुण्य के फलस्वरूप उन्हें प्राप्त होते हैं, फिर भी भगवान् की असली विशेषता तो उनके आन्तरिक गुणों में है। भगवान् की आन्तरिक महिमा के कारण ही वे वन्दनीय और पूजनीय हैं। यही कारण है कि भगवान् की सर्वज्ञता और वीतरागता को शास्त्रकार मूल अतिशयों मे गिनते हैं।

भगवान् के दोनों ओर ढुरने वाले चँवर, भगवान् का दर्शन करने आने वाले लोगों को मानों यह सूचित करते हैं कि हमारी गति का जरा विचार करो। हम नीचे नमते हैं तो फिर ऊँचे चढ़ते हैं। अगर तुम नमोगे-नम्रता धारण करोगे, विनीत होकर रहोगे तो तुम भी ऊँचे चढ सकोगे। भगवान् को नमन करने से तुम्हें स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होगी। नम्रता से आत्मा का उत्थान होगा।

भाइयो, नमना बड़ी भारी चीज है। नमना विनय है और विनय तपस्या है। तपस्या से कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा होने पर कर्म हट जाते हैं और आत्मा विशुद्ध हो जाती है। आत्मा की विशुद्धि होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट होते हैं। इसलिए नमना बड़ी भारी चीज है।

अब प्रश्न यह है कि नमना किसे चाहिए? इसका उत्तर यह है कि अरिहंत को, सिद्ध को आचार्य को, उपाध्याय को

और सब साधुओं को नमस्कार करना चाहिए। यह पाँच परमेष्ठी कहलाते हैं। जो परम पद में स्थित हो उसे परमेष्ठी कहते हैं। यह पाँचों आत्मिक विशुद्धता के आदर्श हैं। अर्थात् आप जिस रास्ते पर चलना चाहते हैं और जो स्थिति प्राप्त करना चाहते हैं, उस रास्ते पर वे चले हैं और वह स्थिति उन्होंने प्राप्त की है। इस तरह परमेष्ठी आत्मिक गुणों के आदर्श हैं। आदर्श के प्रति नम्रता धारण करने से लाभ हो सकता है। प्रत्यक्ष मे देखा जाता है कि जल उसी तरफ को जाता है जिस तरफ ढलाव हो-निम्नता हो ऊँचाई की ओर नहीं जाता। अत एव अगर आप परमेष्ठी के गुणों को अपनी आत्मा में जागृत करना चाहते हैं तो नम्रता धारण करनी चाहिये। पाँच परमेष्ठी को नमस्कार करने से आपके अन्तः-करण की शुद्धि होगी, उनके प्रति आदर का भाव जागृत होगा और उनकी चर्या का अनुभव करने की भावना उत्पन्न होगी और इससे आपका कल्याण होगा।

मगर मनुष्य में एक अवगुण होता है जो उसे नमने नहीं देता। शास्त्र में कहा है:—

कोहो य माणो य अणिग्गहीआ,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइँ पुणब्भवस्स॥

—श्री दशवैकालिक, अ ८.

दुनिया में कषाय बहुत बुरी चीज है। कषाय के चार रूप हैं-क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोध और मान का

यदि निग्रह न किया जाय, इन पर काबू न रक्खा जाय और मायाचार तथा लोभ बढ़ते चले जाएँ तो यह जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाते ही चले जाते हैं। भगवान् ने इन्हें चाण्डाल चौकड़ी कहा है। जो इसके चक्कर में पड़ जाता है उसकी चौरासी छूट नहीं सकती।

इस चाण्डाल-चौकड़ी में पहला स्थान क्रोध का है। क्रोध एक भयंकर अवगुण है। वह विवेक का शत्रु है। जहां क्रोध आया कि विवेक गायब हो जाता है। क्रोधी पुरुष अपने हित और अहित का भी विचार नहीं करता तो दूसरे के हिताहित का क्या विचार करेगा? उसकी बुद्धि ही नष्ट हो जाती है। क्रोधी में एक प्रकार का पागलपन उत्पन्न हो जाता है और वह क्रोध की अवस्था में ऐसा काम कर बैठता है कि फिर उसे बहुत बार पश्चात्ताप करना पड़ता है। क्रोधी मनुष्य कभी-कभी तो अपने प्राणों तक की बलि चढ़ा देता है। क्रोध की स्थिति में आत्मघात करने के अनेक उदाहरण मौजूद हैं।

क्रोधी मनुष्य स्वयं जलता है और दूसरों को भी जलाता है। वह सर्व प्रथम स्वयं संताप प्राप्त करता है, जलन के कारण व्याकुल होता है फिर दूसरों को संताप पहुँचाने का प्रयत्न करता है। उसके प्रयत्न से दूसरे को दुःख हो या न हो, दूसरे का अहित हो भी सकता है और कभी नहीं भी होता, मगर क्रोधी आप स्वयं अपना अहित अवश्य कर लेता है। अतएव भगवान् का आदेश है कि अगर तुम संताप से बचना चाहते हो, जलन तुम्हें प्रिय नहीं है, शान्ति पसंद है तो क्रोध को अपने काबू में रक्खो। क्षमा भावना को बढ़ाओ। क्षमा

भावना ज्यों-ज्यों बढ़ती जाएगी, क्रोध शान्त होता चला जाएगा और आपको अपूर्व आनन्द मिलता जाएगा।

दूसरा कषाय मान है। भगवान् ने कहा है-'माणो विणय-नासणो।' अर्थात् मान विनयगुण का नाश करने वाला है। मनुष्य अभिमान के वश होकर अपने आपको सभी कुछ और दूसरों को न कुछ-नाचीज़ समझता है। अभिमानी पुरुष दूसरे के सद्गुणों को भी दुर्गुणों के रूप में देखता है और अपने दुर्गुणों को भी सद्गुण समझता है। फल यह होता है कि वह सद्गुणों से वंचित रहता है और दुर्गुणों का भंडार बन जाता है।

अभिमान का कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही मनुष्य अपने को बहुत ऊँचा और दूसरों को नीचा समझता है। जो ज्ञानवान् होता है वह जानता है कि मैं किस चीज पर अभिमान करूं? अभिमान करने योग्य मेरे पास क्या है? धन-दौलत मेरे पास है तो क्या हुआ, दुनिया में एक से बढ़कर एक धनवान् हैं। इसके सामने मेरी सम्पदा तुच्छ है। उस पर मैं क्या अभिमान करूँ? और जिस धन-दौलत पर मैं अभिमान करता हूँ, उसे कीचड़ के समान समझ कर ज्ञानी पुरुषों ने त्याग दिया है। उसे ठुकरा दिया है!

मैं रूप का या बल का अभिमान करूँ? मगर वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो मैं अरूपी हूँ। रूप पुद्गल का स्वभाव है, आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। रूप मेरा विकार है और मेरा कलंक है। मेरे लिए जो कलंक की चीज है, उस पर अभिमान कैसे करूँ? बल आत्मा का गुण है और वह अनन्त है। उस

अनन्त बल में से असंख्यातवां हिस्सा भी आज मुझे प्राप्त नहीं है। फिर अभिमान कैसा ?

कुल और जाति का अभिमान करना मूर्खता है। अनादि काल से संसार में भ्रमण करते-करते इस जीव ने सभी जातियों में और सभी कुलों में अनन्त-अनन्त बार जन्म धारण किया है। अनन्त बार यह चाण्डाल-कुल में जन्म ले चुका है। फिर जाति और कुल का अभिमान किस लिए ? और दरअसल न तो कोई जाति ऊँची होती है और न नीची होती है। उच्चता और नीचता का आधार कर्त्तव्य है। ऊँचा कर्त्तव्य करने वाला ऊँचा और नीचा कर्त्तव्य करने वाला नीचा होता है।

मनुष्य जिन २ चीजों का सहारा लेकर अभिमान करता है, उन सब के विषय में इसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से विचार करना चाहिए। ऐसा विचार करने से अभिमान नष्ट हो जाएगा या उत्पन्न ही नहीं होगा।

भाइयो, अगर आप गुणों से प्रेम करते हैं और गुणवान बनना चाहते हैं और गुणवान् बनने का मार्ग तलाश करना चाहते हैं तो मैं आपकी सहायता करने को तैयार हूँ। मैं आपको मार्ग बतलाता हूँ। वह मार्ग विनय का ही मार्ग है। विनय के राज-मार्ग पर चलो और चलते चलो। धीरे २ सभी सद्गुण आप को प्राप्त हो जाएँगे। अगर आपने विनय का रास्ता अख्तियार कर लिया है तो निश्चय ही सारे सद्गुण आपको खोजते हुए आएंगे। आपको उनकी खोज में नहीं भटकना पड़ेगा।

भगवान् महावीर के शिष्य गौतम स्वामी को देखो! लोकोत्तर ज्ञान के धनी और ऋद्धियों के अक्षय भंडार होने

पर भी कितने विनयवान् थे ! सुधर्मास्वामी के शिष्य जम्बूस्वामी के पवित्र चरित पर दृष्टि डालो। वे विनय के साक्षात् अवतार थे ! उन्होंने कभी उपालंभ सहन नहीं किया। वे सच्चे शूरवीर थे। किसी की आधी बात भी सुनने का अवसर उन्हें नहीं आया। ठीक ही कहा है.—

सूरा सहे न बोल ।

विनीत अश्व कभी किसी की तर्जना सहन नहीं करता और जो शूरवीर होता है वह कभी कायरता नहीं दिखलाता।

विनय शिष्टता का चिह्न है और मोक्ष का मार्ग है। विनय की गणना आभ्यन्तर तप में की गई है। शास्त्र में विनय को बहुत महत्त्व दिया गया है। बतलाया गया है धर्म का मूल विनय ही है। जैसे मूल के उखड़ जाने पर वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता, उसी प्रकार विनय के बिना धर्म स्थिर नहीं रह सकता। विनीत पुरुष सम्पत्ति का अधिकारी होता है और अविनीत आपत्तियों से घिरा रहता है।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि नमना धर्म बड़ा जबर्दस्त है। अगर तुम गुणवानों के सामने नहीं नमोगे तो फिर इस शरीर का क्या करोगे ? यह तो एक दिन चिता में जल जाएगा। यह शरीर आखिर किस काम का है ? शरीर की सार्थकता उत्तम गुणी जनों को नमस्कार करने में ही है। यह मत समझो कि नमन करने से तुम हीन समझे जाओगे, नीचे गिर जाओगे या तुम्हारी महत्ता को क्षति पहुँचेगी। नहीं, विचारशील पुरुष तुम्हारी नम्रता की कद्र करेंगे, तुम्हें कुलीन और

शीलवान समझेंगे। विनय करने से तुम्हारे सद्गुण, जो छिपे हुए होंगे, प्रकाश में आ जाएँगे और तुम्हारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी और महत्ता बढ़ेगी। नमता कौन है? ओछे आदमी नहीं नमते। गुणों के गौरव के कारण ही नम्रता आती है।

नमे आँबा ईमली, नमे दाड़िम दाख।
आक बिचारा क्या नमे, जिसकी ओछी जात॥

आम के वृक्ष में जब फल लगते हैं तो वह झुक जाता है, नम जाता है। इसी तरह इमली आदि फल वाले वृक्ष नम जाते हैं। मगर आकड़ा नहीं नमता है और कदाचित् नम जाता है तो टूट जाता है।

आशय यह है कि जिसमें क्षुद्रता है, तुच्छापन है, वह नमना नहीं जानता। नमेगा तो लायक आदमी नमेगा। विनय बड़े आदमियों का लक्षण है और गरूर नीचे आदमियों का लक्षण है। नमने से आदमी बड़ा माना जाता है।

भाइयो, यह मत समझ लेना कि साधु अपने सामने नमाने के लिए यह उपदेश देते हैं। साधुओं को इस बात की परवाह नहीं होती कि कोई उनको नमस्कार करता है या नहीं। दशवैकालिक सूत्र में कहा है:—

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठइ॥

—दशवै. अ. ५, उ २,

अर्थात्—कोई सामने आकर भी साधु को वन्दना न करे तो साधु को चाहिए कि वह उस पर क्रोध न करे और अगर कोई वंदना करे तो साधु को अहंकार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार समभाव धारण करने पर ही साधुता स्थिर रहती है। जो वन्दना न करने वाले पर क्रोध करता है, उसका साधु-पन दूषित हो जाता है। इसी प्रकार दूसरों को नमस्कार करत देखकर जो फूल जाता है, अहंकार करता है, उसका भी साधु पन ठहर नहीं सकता।

अगर आप साधु को नमस्कार करते हैं तो यह मत सम-झिए कि साधु पर ऐहसान कर रहे हैं? आपकी वन्दना से या नमस्कार से साधु को क्या लाभ होने वाला है? अगर लाभ होगा तो आपको ही होगा, साधु को नहीं। साधु के लिए तो आपकी वन्दना एक प्रकार का अनुकूल परीषह है। साधु पर कष्ट आना प्रतिकूल परीषह है। उस परीषह को वह समभाव से सहन कर लेता है तो निर्जरा का अधिकारी होता है। उसी तरह वन्दना उसके लिए अनुकूल परीषह है। वन्दना किये जाने पर भी साधु अगर समभाव में स्थित रहा तो निर्जरा का पात्र होगा और यदि चलायमान हो गया, अहंकार का अंकुर चित्त में उत्पन्न हो गया तो कर्मबन्ध का पात्र बनना पड़ेगा। प्रतिकूल परीषह की अपेक्षा अनुकूल परीषह को सहन करना अधिक कठिन होता है। ऐसी स्थिति में साधु क्यों चाहेगा कि कोई उसे वन्दना करे! जान बूझ कर वह खतरे में नहीं पड़ेगा।

विनीत प्रकृति पुण्य के उदय से प्राप्त होती है। इसमें

केवलज्ञान दिलाने की शक्ति है। देखो बाहुबली स्वामी बारह महीनों तक समाधि में लीन रहकर और अनशन करते हुए एक ही जगह खड़े रहे। मगर केवलज्ञान की प्राप्ति तो विनय करने पर ही हुई। विनय के बिना आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। इसी कारण साधु विनय का उपदेश देते हैं।

विनय के बिना इस लोक में भी सुख-शान्ति नहीं मिलती। जिस कुटुम्ब में पुत्र पिता के प्रति और माता के प्रति विनय भाव रखता है और प्रत्येक छोटा अपने से बड़े के सामने विनम्रतापूर्ण व्यवहार करता है, उस कुटुम्ब में आनन्द-मंगल रहता है और स्नेह का मधुर रस बरसता रहता है। बहू, सासू का विनय करेगी तो वह जब स्वयं सासू बनेगी तो उसकी बहू भी उसके प्रति विनययुक्त व्यवहार करेगी। माता-पिता का विनय करने से भी स्वर्ग की प्राप्ति होती है, ऐसा श्री उववाई सूत्र में जिक्र चला है।

राजा श्रेणिक ने विनय धर्म पकड़ा था। वह एक करोड़ और एकहत्तर लाख गाँवों का मालिक था। वह मुनिराज को देख लेता तो बाजार में सवारी पर से उतर कर, तीन बार, उठ-बैठ कर नमस्कार करता था। बहुत-से लोग साधु को देख कर मुँह फेर लेते हैं और नजर बचाकर निकल जाते हैं। वे सोचते हैं—साथ वाले क्या कहेंगे? मगर इस प्रकार का विचार मन की कमजोरी है। राजा श्रेणिक में ऐसी कमजोरी नहीं थी। वह बहुत विनीत था।

एक दिन राजा श्रेणिक अपने सरदारों और उमरावों के

साथ सवारी पर बैठे हुए बाजार में से जा रहे थे। रास्ते में आहार के लिए जाते हुए एक मुनिराज पर उनकी दृष्टि पड़ी। राजा ने ज्यों ही मुनिराज को देखा कि तत्काल वह नीचे उतरे और मुनिराज के सामने जाकर उनके चरणों में गिर पड़े। राजा का यह व्यवहार उनके उमरावों को अच्छा नहीं लगा, मगर वे बोले कुछ नहीं। राजा श्रेणिक चतुर थे। उन्होंने भाँप लिया कि इन्हें मेरा यह व्यवहार अखरा है। मगर राजा ने भी कुछ नहीं कहा।

श्रेणिक लौटकर राजमहल मे आये। उन्होंने अभयकुमार से कहा-एक बीड़ा बनवाओ और उस पर "अहिंसा परमो धर्मः" ऐसा वाक्य लिखवाओ। उस बीड़े को दरबार में लेकर आना।

दूसरे दिन राजसभा मे सभी सरदार और उमराव खास तौर से बुलाये गये। अभयकुमार "अहिंसा परमो धर्मः" का बीड़ा लेकर सभा में पहुंचे। राजा ने कहा यह "अहिंसा परमो धर्मः" का बीड़ा है। जो शूरवीर पुरुष जीवनपर्यन्त, मन, वचन, काय से किसी भी प्राणी को न सताने की प्रतिज्ञा धारण कर सकता हो, वह इस बीड़ा को उठा ले।

सब उमराव और सरदार सन्नाटे में आ गये। युद्ध करने के लिए तो बहुत बार बीड़ा फिरता उन्होंने देखा था, मगर अहिंसा का यह बीड़ा निराला ही था। सब कहने लगे कि उम्र भर यह निभना कठिन है। किसी की हिम्मत न हुई कि वह बीड़े को हाथ लगाए। आखिर इस बीड़े को रख दिया गया।

एक-दो मास बीत जाने के बाद एक और बीड़ा सत्य का राज सभा में फिराया गया। उसके साथ यह शर्त थी कि जो जीवन भर सत्य बोलने का प्रण करने को तैयार हों वे इस बीड़े को उठावें। मगर इस बीड़े की भी वही गति हुई जो अहिंसा के बीडे की हुई थी। जिन्दगी भर सत्य बोलने का प्रण लेना बड़ा कठिन है। संसार में धर्मात्मा कहलाने वाले बहुत हैं परन्तु धर्म का पालन करने वाले विरले ही होते हैं। आखिर सत्य का बीड़ा भी वापिस लौटा दिया गया।

कुछ समय व्यतीत हो जाने के बाद अस्तेय का बीड़ा फिराया गया। जो जीवन-पर्यन्त मन, वचन, काय से चोरी करने का त्याग करने को तैयार हो, जो बिना हक की चीज न लेने की प्रतिज्ञा करे वह उस बीड़े को उठाने का अधिकारी था। मगर उसे भी उठाने का किसी ने साहस नहीं किया।

कुछ अर्से के बाद चौथा बीड़ा पूर्ण ब्रह्मचर्य का राजसभा में घुमाया गया। लेकिन किसकी हिम्मत थी जो उसे उठा सके!

फिर एक दिन अपरिग्रह का भी बीड़ा हाजिर किया गया। जो दुनिया की किसी भी वस्तु पर ममत्व न रक्खे, लोभ का पूरी तरह त्याग करे और आकिंचनता अंगीकार करने को तैयार हो वही उस बीड़े का अधिकारी था। मगर इतना बड़ा त्याग करने की हिम्मत किसी की नहीं हुई।

तब मगधाधिपति श्रेणिक ने कहा-नृपतिगण ! और उमरावो ! आपमें से किसी ने पहला बीड़ा नहीं उठाया। अगर कोई वह बीड़ा उठा ले तो आप क्या समझेंगे ?

सब एक स्वर में बोले–उसे हम ईश्वर तुल्य मानेंगे और उसके चरणों में अपना मस्तक झुकाएँगे।

श्रेणिक—यदि कोई दूसरा बीड़ा उठा ले तो?

सब—उसे भी हम नमस्कार करेंगे।

श्रेणिक—और यदि तीसरा बीड़ा उठा ले तो?

सब—उसे भी हम पूजनीय समझेंगे।

श्रेणिक—उम्र भर ब्रह्मचर्य पालने का बीड़ा उठा ले तो?

सब—महाराज, उसके लिए तो कहना ही क्या है। वह तो प्रातः स्मरणीय कहा जायगा। ब्रह्मचारी पुरुष के गुणों का तो पार ही नहीं है।

श्रेणिक—जब आप एक-एक बीड़ा उठाने वाले को पूजनीय और नमस्करणीय समझते हैं तो जिन्होंने पाँचों बीड़े उठाये हों, उन्हें आप क्या समझते हैं?

सब—वे इस पृथ्वी के शृंगार हैं। मनुष्य के रूप में देवता ही नहीं, उससे भी बढ़कर हैं। वे भगवान् के प्रतिनिधि हैं और सर्वथा पूज्य हैं।

श्रेणिक-ठीक है, आप लोगों का विवेक जागृत है। आपने यथार्थ ही कहा है। उस दिन मार्ग में जो मुनिराज मिले थे, उन्होंने पांचों बीड़े उठा रक्खे हैं। वे पांचों महाव्रतों का पालन करते हैं। इसी कारण मैंने उन्हें नमस्कार किया था। फिर मेरा नमस्कार करना आपको खटका क्यों था? आपके चेहरे पर उस समय अरुचि का भाव क्यों उत्पन्न हुआ था?

श्रेणिक का स्पष्टीकरण सुनकर जिन उमरावों ने उस दिन अरुचि दिखलाई थी, उन्हें मानों काठ मार गया ! उस समय उन्हें अपनी भूल का भान हुआ और वे लज्जित हो गये। मगर सब ने यह निश्चय किया कि अब कहीं रास्ते में मुनिराज मिलेंगे तो हम उन्हें वहां भी घुटने टेक कर नमस्कार करेंगे।

भाइयो, एक छोटा-सा बीड़ा है रात्रि में भोजन न करने का। है आपमें कोई ऐसा वीर पुरुष जो इसे उठा सके? रात्रि में भोजन न करना कोई कठिन बात नहीं है। इस छोटे-से पेट को भरने के लिए सूर्योदय से लगाकर सूर्यास्त तक काफी लम्बा समय मौजूद है। इस लम्बे अर्से में अगर आपका पेट भर सकता है तो फिर रात्रिभोजन के पाप से छुटकारा क्यों नहीं पा लेते? रात्रिभोजन से धार्मिक हानि ही नहीं है, स्वास्थ्य की भी हानि होती है और कई लोगों को तो प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है।

(सभा में सन्नाटा छा गया। मगर उस सन्नाटे को भंग करती हुई एक बाई उठी और उसने रात्रि भोजन का त्याग किया। दूसरी बाई ने असत्य भाषण का त्याग किया। इसके बाद एक भाई ने रात्रिभोजन त्यागा।)

भाइयो, प्रण करना वीरों का काम है। वहां कायरों का काम नहीं। कहा है—

प्रण यो वीरों का तू धार सके तो धार ॥ ध्रुव ॥
तन धन प्राण तीनो ही दे प्रण के ऊपर वार ॥

वीर ही प्रण धारण कर सकते हैं। प्रणधारी वीर अपने प्रण के

सामने तन, धन, यहां तक कि प्राणों को भी तुच्छ समझते हैं। लोग कहते हैं—अरे साहब ! मर जाएँगे तो क्या होगा ? उन्हें सोचना चाहिए कि जन्म लिया है तो मरना तो पड़ेगा ही। 'जातस्य हि ध्रुवं मृत्यु:' अर्थात् जो जनमा है उसे मरना ही पड़ेगा। प्राणों को बचाने का प्रयत्न करके कोई अमर नहीं हो सकता। मगर मरने-मरने में अन्तर है। एक आदमी कुत्ते की मौत मरता है और दूसरा शूरवीर की तरह मरता है। शूरवीर की तरह मरने वाला, मृत्यु के बाद भी अमर रहता है, क्योंकि उसकी कीर्त्ति रूपी काया जगत् में विद्यमान रहती है। भले ही हाड़-मांस का शरीर विद्यमान न रहा हो, मगर जिसका यश-शरीर विद्यमान है वह इस भूतल पर अमर कहलाता है।

आज भारत का बच्चा-बच्चा गांधीजी और सुभाषचन्द्र बोस का नाम जानता है और उनकी प्रशंसा के गीत गाता है। इसका एक मात्र कारण यही है कि उन्होंने अपने प्रण की पूर्ति करने में ही अपना जीवन लगा दिया और प्रण का पालन करते हुए प्राण त्यागे। सरदार पटेल, जवाहरलाल नेहरू और राणा प्रतापसिंह आदि के नाम क्यों विख्यात हैं ? अपने प्रण और दृढ संकल्प के पीछे ही समस्त शक्तियाँ जुटा देने वाले पुरुष ही प्रतिष्ठा के अधिकारी होते हैं। जरा-सी कठिनाई आई और शस्त्र डाल दिये: इस प्रकार की कायरता जिसमें होगी उसकी आजादी कायम नहीं रह सकेगी।

कहा भी है:—

रण में जो शस्त्र डाले, रहे ठकुराई न लगार ॥ २ ॥

जिसने दुश्मन के सामने हथियार फेंक दिये, उसका राज्य कायम कैसे रह सकता है ? जर्मनी और जापान ने जब हथियार डाल दिये तो उनकी स्वाधीनता खत्म हो गई। वे पराजित होकर विजताओं के गुलाम बन गए।

प्राण जाय पर प्रण नहीं जाए।
यह रघुकुल-रीति-विचार ॥ ३ ॥

तुलसीदासजी ने भी कहा है:—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई।
प्राण जायँ पर वचन न जाई ॥

महाराणा प्रताप ने अपने देश की स्वाधीनता की रक्षा करने का प्रण किया था। उनका संकल्प था कि मैं अपने देश की अप्रतिष्ठा नहीं होने दूँगा और हिन्दु धर्म को डूबने नहीं दूँगा। यह प्रण लेने के कारण ही वे हिन्दूकुल-कमल-दिवाकर' कहलाए। वे अपने प्रण की रक्षा के लिए जंगलों में भटकते फिरे। उनके सम्बन्ध में अनगिनती रचनाएँ मिलती हैं। कवियों ने उनकी गुणगाथा गाकर अपनी श्रद्धा प्रकट की है।

एक जगह कहा है:—

अपने धर्म के वास्ते राणा प्रतापसिंह।
बनवा के रोटी घास की खाते थे किसी दिन ॥
दुनिया में कैसे वीर थे, मौजूद किसी दिन।
तारीफ जिनकी करते थे, हर जहाँ में किसी दिन ॥ ध्रुव ॥

वे सच्चे वीर थे। बहुत-से लोग वचनों के वीर होते हैं। बातें बहुत बढ़-बढ़ कर करते हैं, मगर जब समय आता है तो किनारा काट जाते हैं और दुम दबा कर भाग जाते हैं।

एक आदमी पत्नी के सामने अपनी बहादुरी की डींग हांका करता था। कभी कहता आज मैं ने पचास चोरों को मार भगाया! कभी कहता-आज दस को तलवार के घाट उतार दिया और किसी दिन पांच को यमलोक भेजा देने की बात कहता। एक दिन पत्नी ने सोचा-यह अपनी बड़ी तारीफ किया करते हैं। इनकी परीक्षा कर देखनी चाहिए। पति के चले जाने पर पत्नी ने पुरुष का वेष धारण किया। कमर में तलवार बांधी और दूसरे रास्ते आगे जाकर चुपचाप जंगल में बैठ गई। जब पति महोदय उस जंगल में होकर गुजरे तो पत्नी ने बड़े जोर से हो-हो करके चिल्लाना शुरू किया। पति डर गया और उसने तलवार और बंदूक फेंक दी। पत्नी ने आकर एक थप्पड़ जमाया और तलवार-बंदूक हथिया ली। इतना करके वह घर लौट आई और उसने स्त्री के कपड़े पहन लिये।

जब पति लौट कर घर आया तो अपनी आदत के अनुसार कहने लगा आज एक चोर मिला था और बिना ही तलवार बंदूक के उससे लड़ाई की। तब पत्नी ने मुस्करा कर कहा उसने थप्पड़ तो नहीं मारी? वह सकपका कर बोला-क्या तुम्हीं थी? और पत्नी ने कहा-यह रही आपकी बंदूक और तलवार! आप हमेशा बड़ी-बड़ी डींगें मारा करते थे। आज आपकी वीरता की कलाई खुल गई।

भाइयो बातें करना दूसरी बात है और प्रण पर डटे रहना और सच्ची वीरता धारण करना दूसरी बात है। कायर नहीं, शूरवीर ही प्रण का पालन करते हैं। राजा हरिश्चन्द्र ने कितनी-कितनी मुसीबतें झेली, फिर भी अपने प्रण का परित्याग नहीं किया:—

सत्यधारी हरिश्चन्द्र ने, या बेची तारा नार ॥

सत्यवीर हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्नी को बेच दिया और अपने आप को भी बेच दिया, मगर अपने प्रण का पालन किया। क्या संसार-क्षेत्र में और क्या धर्म-क्षेत्र में, वीरता और दृढ़ता के बिना कोई काम सिद्ध नहीं होता।

त्यागन कर नहीं आचरे, यह उत्तम का आचार ॥

जिसका त्याग कर दिया है, उसे प्रणवीर पुरुष कभी ग्रहण नहीं करता। त्यागी पुरुष त्याग की हुई वस्तु को वमन के समान समझता है। वमन को खाना कुत्ते का काम है! और भी देखिए:—

प्रायश्चित किया शराब का, कांई शीशो पायो गार ॥

उदयपुर के राणा 'सीसोदिया' कहलाते हैं। उनके एक पूर्वज ने शराब नहीं पीने की प्रतिज्ञा की थी। मगर जब वह बीमार हुआ तो किसी ने शराब मिली दवा पिला दी। वह पी गया। जब वह स्वस्थ हो गया तो उसे मालूम हुआ कि मुझे शराब पिलाई गई थी तब उसने शराब की वह बोतल मँगवाई। बोतल पिघलवाई गई और प्रायश्चित्त के रूप में उसने

उसका पान कर लिया ! थोड़ी ही देर में उसके प्राण-पखेरू उड़ गये ! उसी कारण वह और उनके वंशज 'सीसोदिया' कहलाए ! तभी तो हम भी ऐसे पुरुषों के गुणों का बखान करते है ! और भी कहा है:—

मुन्दिर्शन का नेम लिया वो सुखी हुओ साहूकार ॥
चौथमल कहे अरणक के, आ देव नमा चरणार ॥

भाइयो, एक आदमी ने प्रण लिया था कि गाँव में या गाँव के बाहर मुनिराज पधारेंगे तो दर्शन किये बिना अन्न पानी ग्रहण नहीं करूँगा। एक बार मुनिराज पधारे और लोग दर्शन कर आये। जब इसे मालूम हुआ तो यह भी गया, लेकिन मुनिराज आगे चले गये थे। यह पीछे-पीछे चला, मगर उनके दूर निकल जाने के कारण दर्शन न हो सके। आखिर यह एक पहाड़ी पर चढ़ा और मुनियों को देख कर जोर से चिल्लाया' 'देख लिया ! देख लिया ! मिल गये, काम सिद्ध हो गया !'

उसके यह शब्द उसके पड़ोसी एक कुंभार ने सुने। कुंभार वहाँ पास के एक खेत में था। मिट्टी खोदते-खोदते उसे सोना मिल गया था और वह उस समय सोना खोद रहा था। कुंभार ने उपर्युक्त शब्द सुन कर विचार किया-इसने मुझे सोना खोदते देख लिया है। अगर इसे हिस्सा न दूंगा तो यह जाहिर कर देगा और सारा सोना सरकार छीन लेगी !' इस प्रकार विचार करके कुंभार ने चिल्लाकर कहा—इधर आ जाओ !

वह आदमी कुंभार के पास पहुँचा। कुंभार ने मिला हुआ सोना बतलाकर कहा-यह देखो, इतना सोना मिला है। इसमें

से आधा हिस्सा तुम ले लो और आधा मैं ले लूँ। चिल्लाने से क्या लाभ है! न मेरे पास रहेगा और न तुम्हारे पास! आखिर कुंभार ने आधा हिस्सा उसके घर पहुँचा दिया और प्रण लेने के कारण वह सुखी हो गया!

श्री ज्ञातासूत्र में अरणक श्रावक का वृत्तान्त आया है। अरणक श्रावक सत्य पर डटे रहे। देवता ने सत्य से डिगाने की बहुत कोशिश की। वह जिस जहाज में बैठे थे उसे डुबा देने की धमकी दी। मगर अरणक अपने प्रण से लेश मात्र भी नहीं डिगे। तब देवता ने हार मान ली और बहुमूल्य कुंडलों का जोड़ा देकर अरणक का सन्मान किया और विनय के साथ उसकी प्रशंसा की।

तात्पर्य यह है कि विनय एक महान् धर्म है। विनीत पुरुष मोक्ष का अधिकारी होता है। विनयवान् सहज ही दूसरों को अपने अधीन कर लेता है। उसकी विनम्रता में ऐसी आकर्षण शक्ति होती है कि सब लोग अनायास ही उसके अनुकूल हो जाते हैं। इसी कारण शास्त्रों में विनय की प्रशंसा की गई है और उसे बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। विनयी पुरुष नम्रता धारण करके ज्यों-ज्यों नीचा झुकता है त्यों-त्यों उसका अभ्युदय होता है। अतएव अगर आप अपना कल्याण चाहते हैं और गुणवान् बनना चाहते हैं तो विनय को ग्रहण कीजिए। विनय नकद धर्म है। उससे इस भव में भी अनेक लाभ होते हैं और परभव में भी महान् कल्याण होता है।

भावदेव की कथा

राजकुमार शिवकुमार ने भी विनय धर्म का पालन किया।

मुनिराज को देखते ही वह अपने महल से नीचे उतर कर आया और मुनिराज के सामने गया। उसने विनयपूर्वक मुनिराज से प्रश्न किया-भगवन्, आपने इस अवस्था में संसार क्यों त्याग दिया ?

मुनिराज ने कहा-मैंने अपनी आत्मा के कल्याण के लिए संसार त्याग कर साधु-अवस्था स्वीकार की है। मैंने समझ लिया है कि संसार का वैभव आत्मा का त्राण नहीं कर सकता। भोगोपभोग आत्मा को तृप्त नहीं कर सकते। भोगोपभोगों की तृष्णा ऐसी आग है कि उसमें जितना-जितना ईंधन झोंका जाता है, वह उतनी ही बढ़ती चली जाती है। जैसे आग ईंधन से तृप्त नहीं होती उसी प्रकार चित्त भोगों से तृप्त नहीं होता अतएव भोग भोगकर तृप्ति की आशा करना दुराशा मात्र है। भोगों का त्याग कर देना ही तृप्ति का एक मात्र साधन है, यह सोचकर मैंने त्याग का मार्ग अंगीकार किया है। अब मैं तृप्त हूँ और तृष्णा की आग मुझे संताप नहीं पहुँचाती।

संसार का समस्त वैभव यहीं रह जाता है। वह आज तक किसी के साथ गया नहीं है और जायगा भी नहीं। धर्म ही साथ जाने वाला है। ऐसी स्थिति में वैभव के चक्कर में पड़कर धर्म को विस्मरण कर देना मुझे उचित नहीं मालूम हुआ। शाश्वत को त्याग कर अशाश्वत को अपनाने में बुद्धिमत्ता नहीं है। आत्मा की गुणसम्पत्ति ही उसका शाश्वत वैभव है। उसे प्राप्त करने का मार्ग साधुपन है। इसी लिए मैं साधु बना हूँ।

राजकुमार ने मुनिराज का उत्तर सुना। मुनिराज के उत्तर में गंभीर भाव भरे हुए थे। उसने मुनिराज के शब्दों पर विचार किया। विचार करते ही उसके अन्दर के नेत्र खुल गये। मतिज्ञानावरण का विशेष क्षयोपशम हुआ और उसे पूर्व जन्मों का स्मरण हो आया। उसने याद किया-इससे पहले मैं स्वर्ग में देव था और देव होने से पहले मैंने ब्राह्मण के घर में जन्म लिया था। संयम धारण करने के कारण मैंने देवगति प्राप्त की थी; आदि।

इस प्रकार का ज्ञान जातिस्मरण कहलाता है। यह मति-ज्ञान का ही एक भेद है। आज भी यह ज्ञान किसी-किसी को हो जाता है। समाचारपत्रों में कभी-कभी पूर्वजन्म के स्मरण की घटनाएँ प्रकाशित होती हैं।

राजकुमार को पूर्वजन्म का स्मरण हो गया तो उसने सोचा-यह जीवन बड़ा मूल्यवान् है। ऐसे अनमोल जीवन को भोगोपभोग भोगने में व्यतीत कर देना बड़ी मूर्खता है। कौवा उड़ाने के लिए चिन्तामणि को फेंक देना जैसी मूर्खता है, भोग भोगने में इस जीवन को गँवा देना भी वैसी ही मूर्खता है। मनुष्य का जीवन आत्मा की शुद्धि के लिए है और तपस्या के बिना आत्मशुद्धि हो नहीं सकती। जब मुझे असलियत का पता चल गया है तो ढील करना मुनासिब नहीं। मुझे शीघ्र से शीघ्र आत्म कल्याण के पथ का पथिक बन जाना चाहिए।

इस प्रकार विचार कर राजकुमार ने मुनि को प्रणाम किया। वह राजमहल में लौट आया। माता-पिता के पास जाकर

उसने कहा— 'मैं मुनि बन कर तपस्या करना चाहता हूँ। आज्ञा प्रदान कीजिए।"

राजकुमार की बात सुनकर माता-पिता को बड़ा संताप हुआ। वे बोले-वल्लभ ! तुझे यह सनक कैसे सवार हो गई है! मुनि बनना बच्चों का खेल नहीं है। मुनि-धर्म का पालन करना खांडे की धार पर चलना है। यह मार्ग कांटों से आकीर्ण है। तू अभी बालक है और अत्यन्त सुकुमार है। तू मुनि-धर्म का पालन नहीं कर सकेगा। मुनियों को अनेक परीषह सहन करने पड़ते हैं। नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। तुझे उन कष्टों की कल्पना ही नहीं है।

राजकुमार बोला-पिताजी और माताजी ! मुझ पर आपकी गाढ़ी प्रीति है। इसी कारण आप नहीं चाहते कि मैं आपसे अलग होकर साधु बनूँ। मगर यह प्रीति और ममता न आपके लिए हितकर है और न मेरे लिए ही कल्याणकारी है। आप मुनि धर्म के पालन की जो कठिनाइयां बतला रहे हैं, वे सही हैं; मगर मनुष्य जब दृढ़ निश्चय कर लेता है और दृढ़ संकल्प के साथ अपने मार्ग पर आगे बढ़ता है तो सारी कठिनाइयां आप ही आप हल हो जाती हैं। कठिनाइयां प्रबल हैं तो आत्मा का बल और भी प्रबल है। आत्मा की शक्ति के सामने कोई भी भौतिक शक्ति नहीं ठहर सकती। अतएव आप इस शुभ कार्य में विघ्न न बनिये। मुझे आज्ञा दीजिए। विश्वास रखिए कि मैं परीषहों से पराजित होकर अपने मार्ग से च्युत नहीं होऊँगा। मैं परीषहों पर विजय प्राप्त करूँगा और मानव-जीवन की वास्तविक सफलता प्राप्त करके ही रहूँगा।

माता-पिता ने राजकुमार को नाना प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया। मगर जब वह न समझा तो उन्होंने जिनदास नामक एक श्रावक को बुलाया और राजकुमार को समझाने के लिए कहा। जिनदास कुमार को एकान्त में ले जाकर बोले—कुमार! आप धन्य हैं कि आपके मन में मुनिव्रत धारण करने की भावना जागृत हुई है। इस नवयौवन अवस्था में वैराग्य की प्राप्ति आत्मा का स्वरूप समझे बिना नहीं हो सकती। आत्मा का स्वरूप आपने समझ लिया है; यह अत्यन्त हर्ष की बात है। मगर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देख कर जो कार्य किया जाता है, वह सफलता और सुन्दरता के साथ सम्पन्न होता है।

कुंवर साहब! आप इस समय गृह त्याग करेंगे तो आपके माता-पिता को असीम वेदना होगी। संभव है, उनका जीवन भी संकट में पड़ जाय! अतएव गृह-त्याग करने से पहले आपको इस बात का भी विचार कर लेना चाहिए। पुत्र पर माता-पिता का महान् उपकार है। भगवान् ने स्वयं उस उपकार की गुरुता का वर्णन किया है। उस उपकार का बदला चुकाना नीतिमान् पुरुषों का कर्त्तव्य है। रही आत्मकल्याण की बात। सो मैं स्वयं श्रावक हूं और आपसे कहता हूँ कि आप गृहस्थधर्म का पालन करेंगे तब भी आपका उद्धार हो जायगा। विद्वानों ने कहा है:-

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।

शास्त्रवित् सत्यवादी च, गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥

अर्थात्-जो गृहस्थ न्याय-नीति से ही धन का उपार्जन करता है, लोभ लालच में पड़कर कदापि अन्याय या अनीति से धन कमाने की इच्छा नहीं करता है, जो तत्त्वज्ञान में निष्ठ होता है अर्थात् जिसने हेय और उपादेय का विवेक प्राप्त कर लिया है, जो शास्त्र स्वाध्याय नियमित रूप से करता है जिसे अतिथि प्यारे लगते हैं, साधु संतों का घर पर आगमन हो जाय तो जो प्रसन्नता का अनुभव करता है, अपना अहोभाग्य मानता है और साधु-संतों के अतिरिक्त अन्य सुपात्रों के आने पर उनका भी यथायोग्य सत्कार करता है; जो गृहस्थ शास्त्रों का ज्ञाता होता है और सत्यवादी होता है, उसके लिए भी मुक्ति का द्वार खुल जाता है। वह मोक्ष के मार्ग का पथिक है और मोक्ष उसके समीप आ जाता है।

अतएव हे राजकुमार! आप गृह में रहते हुए भी, धर्म की ऊँची साधना कीजिए और समय आने पर गृह का भी त्याग कर देना।

जिनदास की बात राजकुमार की समझ में आ गई। उसने कहा मैं गृहस्थी में रह सकता हूँ, लेकिन मैं जितनी तपस्या करना चाहूँगा, उतनी तपस्या करने में तो बाधा नहीं डाली जायगी?

जिनदास ने आश्वासन दिया कि मैं महाराजा और महारानी से निवेदन करके आपको तप करने की पूरी स्वतंत्रता दिलाऊँगा।

आखिर राजकुमार गृहस्थ रहते हुए बेले-बेले की तपस्या करने लगे और तपस्या के पारणे में रूखा सूखा आहार करने

लगे। उन्होंने जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया और आत्मशुद्धि के लिए सदैव तत्पर रहने लगे। ऐसे ही गृहस्थों के विषय में कहा गया हैः-

संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा।

—श्री उत्तराध्ययन.

अर्थात् कोई कोई गृहस्थ भी, भिक्षुओं से बढ़ कर संयमी होते हैं।

राजकुमार की उत्कृष्ट धर्मनिष्ठा देखकर उसके माता-पिता कहने लगे- यह हमारा पुत्र नहीं, गुरु है। युवावस्था में कुमार ने जिस वैराग्य का परिचय दिया है वह हम जैसे प्रौढ़ लोगों के लिए बड़ी जबर्दस्त शिक्षा है।

इस प्रकार साधना करते-करते बारह वर्ष व्यतीत हो गये। इस लम्बे अर्से में राजकुमार का शरीर सूख कर कांटा हो गया। माँस तो जैसे रहा ही नहीं, हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया।

कुमार गृहस्थी मे रहता हुआ भी गृहस्थी से अतीत और शरीर धारण किये हुए भी शरीर से अतीत था। उस की विरक्ति चरम सीमा पर पहुँच गई थी। यद्यपि शरीर अत्यन्त दुर्बल और जीर्ण हो गया था, मगर राजकुमार को इसकी चिन्ता नहीं थी। वह यही सोचते थे कि यह पुद्गलपिण्ड तो सड़ने-गलने वाला ही है। अतएव इससे जितना भी लाभ उठाया जा सके उठा लेना चाहिए। ऐसा सोचकर राजकुमार ने अन्तिम साधना की तैयारी कर ली। उन्होंने आजीवन अनशन व्रत को अंगीकार कर लिया।

जीव मात्र का अपने शरीर के प्रति प्रबल मोह होता है। जब तक वह मोह कम न हो जाय या छूट न जाय तब तक धर्म की साधना ठीक तरह नहीं हो सकती। राजकुमार ने अपने शरीर की ममता का त्याग किया तो वह धर्म की ऐसी साधना करने में समर्थ हो सके कि जो मुनियों के लिए भी आदर्श कही जा सकती है।

यथासमय शरीर का त्याग करके राजकुमार ने देव गति प्राप्त की। वह पहले देवलोक में उच्च श्रेणी के देव हुए। लाखों देवताओं के स्वामी बने। उनका नाम विद्युत् हुआ।

महाराजा श्रेणिक ने इस देव के संबंध में श्रमण भगवान् महावीर से प्रश्न किया था प्रभो, यह देव स्वर्ग से च्युत होकर कहां और कब जन्म लेगा? तब भगवान् ने फरमाया-राजन्, यह देव सात दिन बाद राजगृही नगरी में एक सेठ के घर जन्म लेगा और इसका नाम जम्बूकुमार होगा।

भाइयो, इस कथानक को सुनकर आप अपने कर्त्तव्य पर विचार करें। 'हम गृहस्थ हैं, दुनियादारी के चक्कर में पड़े हैं, हम से क्या हो सकता है, इस प्रकार की कायरतापूर्ण बातें आपको शोभा नहीं देतीं। गृहस्थ कितना ऊँचा कर्त्तव्य पाल कर कितनी ऊँची स्थिति प्राप्त कर सकते हैं, यह समझ कर आप अपने धर्म का पालन करेंगे तो आनन्द ही आनन्द होगा।

जोधपुर,
ता० १६ ८-४८

सम्यग्दर्शन
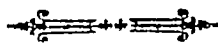
॥ स्तुति ॥

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त—
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं—हे सर्वज्ञ सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम ! कहां तक आपकी स्तुति की जाय ? हे अनन्त गुणों के निधान आपके गुणों का वर्णन करने के लिए शब्द कहां से लाए जाएँ ? बड़े-बड़े ऋषि मुनि आपके गुणों का पार न पा सके तो मुझ जैसे पामर की क्या बिसात है ? प्रभो ! फिर भी अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए जितना बन सकता है, गुणगान करने का प्रयत्न करता हूँ ।

इस श्लोक में आचार्य ने भगवान् के तीन छत्र रूप अतिशय का वर्णन किया है। भगवान् जब समवसरण में विराजमान होते थे और जगत् के जीवों का उद्धार करने के लिए धर्म का उपदेश देते थे, उस समय भगवान् के ऊपर तीन छत्र सुशोभित होते थे। वे एक दूसरे के नीचे रहते थे। सब से ऊपर का छत्र सब से बड़ा, उससे नीचे का कुछ छोटा और सबसे नीचे का सब से छोटा होता था। तीनों छत्र अत्यन्त ही उज्ज्वल होते थे। उनकी दीप्ति चन्द्रमा के समान थी। वे सूर्य की किरणों से बरसने वाले ताप को रोक देते थे। उन छत्रों मे मोतियों की सुन्दर झालरें लटकी हुई होती थीं, जिनके कारण उनकी सुन्दरता और भी बढ़ जाती थी। वे तीन छत्र यह सूचित करते थे कि भगवान् ही तीन लोक के नाथ हैं।

प्रायः देखा जाता है कि राजा के सिर पर एक छत्र होता है, क्योंकि वह एक प्रदेश का स्वामी होता है। मगर भगवान् के ऊपर तीन छत्र थे, क्योंकि भगवान् तीनों लोकों के नाथ हैं और वे छत्र साधारण नहीं, दिव्य थे। देवताओं ने उनका निर्माण किया था।

भाइयो ! तीन छत्र धारण करने वाले भगवान् ने आत्म-कल्याण के लिए तीन ही रत्नों का उपदेश दिया हैः—

(१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक् चारित्र। इन तीनों को तीन रत्न अथवा रत्नत्रय कहते हैं। यह रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है। श्री उमास्वाति कहते हैं—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, यह तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग हैं।

इन तीनों रत्नों की बड़ी महिमा है। मगर इन तीनों में भी सम्यग्दर्शन की महिमा असाधारण है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र उसके कार्य हैं। सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं। सम्यदर्शन के अभाव में कितना ही ज्ञान क्यों न हो मिथ्याज्ञान ही कह-लाता है और चारित्र भी मिथ्याचारित्र कहलाता है। यह ज्ञान और चारित्र संसार भ्रमण का कारण हैं। यह जीव को मोक्ष की ओर नहीं ले जाते। जिस पुण्यशाली आत्मा को एक बार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई उसका जल्दी या देर में मोक्ष में जाना निश्चित हो गया। उसका संसार-परिभ्रमण सीमित हो जाता है।

मोहनीय कर्म की अनन्तानुबंधी चौकड़ी और मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय तथा सम्यक्त्वमोह, इन सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर तथा अनुकूल बाह्य निमित्त मिलने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए जीव को बड़ा पुरुषार्थ करना पड़ता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पहले जीव को तीन करण करने पड़ते हैं। इन करणों के प्रभाव से अनादि काल से बँधी हुई राग-द्वेष की गांठ खुल जाती है। इस समय आत्मा की दृष्टि, श्रद्धा या रुचि एकदम निर्मल हो जाती है। उसे तत्त्व का वास्तविक स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। जन्मान्ध पुरुष को अचानक नेत्रों से दिखाई देने लगे तो उसे

कितना आनन्द होगा, यह हमारे लिए कल्पना का ही विषय है। मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर वैसा ही आनन्द अनुभव होने लगता है।

सीधी-सादी भाषा में कहा जाय तो सम्यग्दर्शन का मतलब है यथार्थ बात को समझ लेना। जब जीव यथार्थ बात को समझ लेता है तो समझना चाहिए कि उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है। सम्यग्दृष्टि को अपने सम्यक्त्व की रक्षा के लिए कुछ बातें करनी पड़ती हैं। उनमें से पहली बात है—परमत्थसंथवो अर्थात् परमार्थ का संस्तव करना।

'एस निग्गंथे पावयणे अट्ठे, एस परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' अर्थात् वीतराग भगवान् के वचन अर्थरूप हैं, परमार्थरूप हैं और रागी-द्वेषी पुरुष के वचन अनर्थकर हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष इस बात को भली भाँति समझ जाता है। अतएव वह इस परमार्थ के जानकार पुरुषों का सत्संग करता है। वह अर्थ और परमार्थ से विपरीत आचरण और श्रद्धान करने वालों की सोहबत नहीं करता। जिनकी श्रद्धा अशुद्ध और विपरीत है यानी जो यह समझते हैं कि भगवान् हैं ही नहीं, धर्मगुरु कोई चीज नहीं है, धर्म ढकोसला है, ऐसा प्रलाप करने वाले की संगति करने से पाप की ओर प्रवृत्ति होती है। जैसे उनकी सत् श्रद्धा का दिवाला निकला हुआ है, उसी तरह आपकी श्रद्धा का भी दिवाला निकल जायगा। जिसकी खोपड़ी में कुश्रद्धा का भूसा भरा है, उसकी संगति करने से आपको कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। सूरदासजी ने कहा है:—

तजो रे मन ! हरिविमुखन को संग ॥ ध्रु० ॥
जाके संग कुमति उपजत है,
परत भजन में भग ॥ तजो रे मन० ॥

हुंडावसर्पिणी काल के प्रभाव से आजकल ऐसी बिगड़ी खोपड़ी के लोग बहुत हैं। किसी कपड़े में दाग लग जाय तो वह धोया जा सकता है और मिटाया जा सकता है, लेकिन कोयले का कालापन कैसे मिटाया जाय ? सौ मन साबुन लेकर तालाब के किनारे बैठ कर भी कोई मिटाना चाहे तो वह नहीं मिट सकता। अलबत्ता, मिटाने का प्रयत्न करने वाले के हाथ काले हो जाएँगे। इसी प्रकार जिनका मन कोयले के समान काला है अर्थात् तीव्रतर मिथ्यात्व से मलिन हो रहा है, उनके मन का निर्मल बनाने का प्रयास सफल नहीं होता। यही नहीं, बल्कि उन्हें सुधारने के लिए जो लोग उनका संसर्ग करते हैं, वे प्रायः स्वयं बिगड़ जाते हैं। चढ़ना कठिन और गिरना सरल होता है। अतएव सम्यग्दृष्टि जीवों को धर्मप्रिय आर्यजनों की ही संगति करनी चाहिए।

सम्यग्दर्शन मोक्ष रूपी महल की पहली सीढ़ी है। सम्यग्दर्शन आत्मा की अनमोल निधि है। जिसे यह निधि प्राप्त हुई वह बड़ा ही सौभाग्यशाली है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाला जीव नरक गति तथा तिर्यञ्च गति में और वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, भवनपति देव योनियों में उत्पन्न नहीं होता। या तो उसे मनुष्यगति प्राप्त होती है या वैमानिक देवों की गति प्राप्त होती है। ऐसा महान प्रभावशाली सम्यग्दर्शन जिसे

प्राप्त हो गया हो उसे पूरा प्रयत्न करके उसे निर्दोष बनाये रखना चाहिए। मिथ्यादृष्टियों की संगति में और जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया है ऐसे लोगों की संगति से सदैव बचना चाहिए।

हीरों और पन्नों की रक्षा करने के लिए बड़ी मजबूत तिजोरी होती है लेकिन पुराने जूतों की कोई परवाह नहीं करता। जूते भी दो प्रकार के होते हैं—खास और मजलिसी। मजलिसी जूते को कोई नहीं उठाता यहां तक कि कुत्ता भी नहीं ले जाता। लेकिन खास जूते पहन कर आने वाला इधर टहल करता है और उधर जूतों पर निगाह रखता है। इसी तरह आत्मा की खास चीज सम्यक्त्व है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार में और कुटुम्ब-परिवार में रहता है और संसार के सब व्यवहार करता है, फिर भी उसकी दृष्टि आत्मा की ओर बनी ही रहती है। यही कारण है कि शास्त्रकार कहते हैं:—

सम्मत्तदंसी न करेइ पावं।

सम्यक्त्वी जीव अवसर आने पर हजारों आदमियों को कत्ल कर देता है, फिर भी वह अनन्तानुबंधी-पाप का भागी नहीं होता। उसे अठारहवां पाप भी नहीं लगता। हां, सम्यग्दृष्टि जीव किसी पर अत्याचार नहीं करता-किसी निरपराध को नहीं सताता, लेकिन जब कोई शत्रु चढ़ कर आ जाता है और नुकसान पहुंचाने की चेष्टा करता है तभी वह सामना करता है। वह अन्याय का विरोध करता है और अत्याचार का प्रतीकार करता है। अत्याचारी

और हमलावर के सामने गर्दन झुका देना उसका काम नहीं है। वह ऐसा करे तो अत्याचारी का हौंसला बढ़ता जाय और अत्याचार की धूम मच जाय! सम्यग्दृष्टि अपनी ओर से अत्याचार नहीं करता मगर अत्याचारी का मुकाबिला, आवश्यकता पड़ने पर तलवार से करने में भी पीछे नहीं हटता एक अन्यायी किसी की स्त्री को उठा कर ले जाता है और जिसकी स्त्री को ले जाता है, वह धर्म का ढोंग करके कहता है- मुझे क्या करना है! मेरे तो समभाव है' मैं किसी को पीड़ा नहीं पहुँचा सकता।' तो ऐसा कहने वाला कायर है। वह नपुंसक है। बड़े-बड़े राजाओं और महाराजाओं ने वीतराग प्रभु का मार्ग ग्रहण किया था और जब आवश्यक हुआ तो उन्होंने शस्त्र भी धारण किये, युद्ध भी किया और अन्याचारियों का खून भी बहाया' राजा चेटक सम्यक्त्वी श्रावक था। फिर भी उसने युद्ध में लाखों आदमियों को मारा। उसका सम्यक्त्व नहीं गया, उसका धर्म नहीं गया। वह न्याय के मार्ग पर था। उसने न्याय-नीति की प्रतिष्ठा के लिए युद्ध किया था।

दुनिया में अड़ना बुरा है या अच्छा? आप कहेंगे अड़ना बुरा है। लेकिन हम स्याद्वाद की दृष्टि से बतलाते हैं कि अड़ना किसी अपेक्षा से अच्छा है और किसी अपेक्षा से बुरा है। देखिए—

रावण को अड़नो बुरो, राम को नीति मँझार।

रावण भी अड़ा था। उसने राम के सामने अड़ने में कोई कसर नहीं रक्खी। वह हाथ में चक्र लेकर खड़ा हुआ कि

राम की गर्दन उतार लूँ। उधर राम भी अड़ गये। दोनों के अड़ने में कोई अन्तर है या नहीं? क्या दोनों का अड़ना सरीखा था? रावण ने राम की पत्नी का अपहरण करके अत्याचार किया था और राम अपनी पत्नी के शील की रक्षा करने का प्रयत्न करके अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए उद्यत हुए थे। इस प्रकार एक अनीति के लिए अड़ा था और दूसरा नीति के लिए अड़ा था।

रावण कहता था-देख राम, मान जा, नहीं तो मार डालूंगा। तब राम का भी यही जवाब था कि तू अपना हठ छोड़ दे, सीता को वापिस कर दे, नहीं तो मैं तेरे प्राण ले लूँगा। रावण ने राम को मारने के लिए चक्र फेंका। लेकिन राम बलदेव और लक्ष्मण वासुदेव थे। चक्र आया और लक्ष्मण की हथेली में बैठ गया। आखिर उसी चक्र से रावण का सिर उतारा गया। रावण खत्म हो गया अर्थात् अत्याचार का अन्त आया। उसका असली सिर कट गया और दूसरे सिर अदृश्य हो गये। राम की विजय हुई।

लोग कहते हैं कि रावण के दस मुँह थे। उसके दशानन दसकंठ, दसग्रीव आदि नाम भी प्रचलित हो गये हैं। परन्तु सच बात यह है कि जैसे प्रत्येक मनुष्य के एक-एक मुख होता है, उसी प्रकार रावण के भी एक ही मुख था। लेकिन उसके दशमुख कहलाने का एक कारण था। रावण के पिता का नाम रत्नश्रव' था। रत्नश्रव के पास नौ मणि रत्नों का एक कंठा था। वह कंठा पहना नहीं जाता था, सिर्फ कुल-देवी की तरह पूजा जाता था। वह उच्च कोटि का कंठा

स्थापना की जगह रक्खा रहता था। एक बार असावधानी से उस कमरे का दरवाजा खुला रह गया, जिसमें कंठा रहता था। उस समय रावण बालक था। वह खेलता-खेलता वहाँ जा पहुँचा और उसने कंठा उठाकर गले में पहन लिया। कंठे में जा मणियाँ लगी थीं, वे चमकीली और श्रेष्ठ थीं। उन पर रावण के सिर का प्रतिविम्ब पड़ रहा था। प्रतिविम्ब इतना साफ था कि मालूम होता था कि हूबहू दूसरे सिर हो हैं। देखने वालों को उस समय रावण क दस सिर दिखलाई दिये।

रावण कंठा पहन कर अपनी माता के पास पहुँचा। माता उसे देखकर क्षण भर विस्मित हो रही कि बालक के दस सिर कैसे हो गये! बाद मे माता को असली बात का पता चला। तभी से रावण का नाम दशानन पड़ गया।

रावण अपनी शक्ति के घमंड मे चूर था। उसने नीति-अनीति का विचार नहीं किया। राम ने बहुत कहा कि तुम सीता को लौटा दो, हम लड़ाई नहीं करना चाहते, मगर रावण नहीं माना। जब आदमी के दिन खराब आ जाते है तो उसकी मति भी खराब हो जाती है। यों रावण बड़ा धर्मात्मा था। व्यभिचारी नहीं था। नीतिज्ञ था। मगर होनहार के वश होकर वह गलती कर बैठा और अन्त मे मारा गया। नीतिकार कहते हैं:-

विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।

वास्तव मे रावण के साथ यही उक्ति चरितार्थ हुई।

वाल्मीकि ने जिसे 'महात्मा' कहा है और जो परमात्मा का बड़ा भारी भक्त था वही रावण आज दुनिया में राक्षस कहलाता है! सचमुच, जिंदगी की एक ही भूल मनुष्य को सदा के लिए कलंकित बना देती है।

जब खोटे काम सूझते हैं, तो दिन खोटे आ जाते हैं।
मति भी खोटी हो जाती है, खोटे विचार मन भाते हैं॥

भाइयो, बुरा समय आने पर आदमी उलटा रास्ता अख्तियार करता है। रावण ने जो गलत मार्ग पकड़ा उसी के कारण उसका सर्वनाश हुआ, सोने की लंका भस्म हुई और युग-युग के लिए वह सर्वसाधारण की घृणा का पात्र बन गया।

मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टि भी अड़ता तो है, मगर वह नीति और धर्म पर अड़ता है। अन्याय और अत्याचार से वह दूर रहता है।

भाइयो, अगर आप न्याय-नीति के मार्ग पर चलना चाहते हैं और अनीति एवं अधर्म से बचना चाहते हैं तो नीतिमान और धर्मात्माओं की संगति में रहें। मिथ्यादृष्टियों की संगति से दूर रहिए। लोग मेहतरों और चमारों से दूर भागते हैं, मगर मैं कहता हूँ मेहतर और चमार बुरे नहीं हैं, मिथ्यात्वी बुरा है, उसी की परछाई से आपको बचने की आवश्यकता है। जिन्होंने धर्म को ग्रहण ही नहीं किया है और जिन्होंने ग्रहण करके त्याग दिया है जो धर्मद्रोही हैं, उनके संसर्ग से आपमें भी अधर्म की भावना उत्पन्न होगी। सूरदास कहते हैं—

जाके संग कुमति उपजत है परत भजन में भंग।
तज मन हरि--विमुखन को संग ॥

मनुजी ने मनुस्मृति में सम्यग्दर्शन की महिमा गाई है। वे कहते हैं:—

कर्माणि न बध्यन्ते

अ. ६. श्लोक ७४

अर्थात्—जिसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो गई है, उसे कर्मों का बंध नहीं होता। वह पाप से लिप्त नहीं होता-अर्थात् मिथ्यात्व के कारण बँधने वाले पाप कर्मों से बच जाता है।

जो सम्यग्दर्शन से हीन है वह संसार में चक्कर काटेगा। कोई मन्दिर में और कोई स्थानक में जाते हैं लेकिन जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ तब तक सभी क्रियाएँ मिथ्या है-ऊँट की मांगने पर शक्कर की चासनी चढाने के समान हैं।

एक अपेक्षा से देखा जाय तो सम्यग्दर्शन-की महिमा केवल ज्ञान से भी बढकर है क्योंकि सम्यग्दर्शन के आने पर ही केवल ज्ञान आता है। सम्यग्दर्शन ही केवल ज्ञान की भूमिका तैयार करता है। सम्यग्दर्शन जीवन को पवित्र बनाने वाला है। इसे श्रद्धा, विश्वास और यकीन भी कहते है। सम्यग्दर्शन या सच्चा विश्वास उत्पन्न हुए बिना तीन काल में भी आत्मा सुखी नहीं हो सकती। इसी लिए तो हम उसकी मनुहार करते हैं और उसे बुलाते हैं:-

जरा सी आई जा ए आई जा,
मने समकित ! सुखी बनाई जा ॥ ध्रुव ॥

भाइयो ऋषभदेवजी और अन्य तीर्थंकरों ने भी अपनी ही तरह अनन्त जन्म-मरण किये थे। मगर जब उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई तभी वे अवतारी पुरुष बन सके। सम्यक्त्व ने ही उन्हें मोक्ष में पहुँचाया। हे समकित ! जैसे तू ने औरों का उद्धार किया, वैसे ही मेरा भी उद्धार कर। तू ने क्या क्या किया है:-

मुर्दों को बनाया जिन्दा, पापी को बनाया बन्दा।
मुझे शुक्ल पक्षी बनाई जा जरा सी आई जा ॥

जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं है, वह मुर्दे के समान है। समकित मुर्दे में जान फूंकने वाला अलौकिक मंत्र है। जिनके हाथ खून से लथपथ रहते थे, वे भी समकित पाकर बंदा बन गये - ईश्वर के भक्त हो गये। सम्यक्त्व के आने पर अनादि कालीन मिथ्यात्व रूपी अंधकार हट जाता है। एक नया प्रकाश, अद्भुत प्रकाश और अलौकिक प्रकाश सामने चमकने लगता है। इस प्रकाश में जीव अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अवलोकन करता है। चित्त का कालापन नष्ट हो जाता है और निर्मलता व्याप्त हो जाती है। इसी बात को आगम की भाषा में कहते हैं कि जीव कृष्णपक्षी मिट कर शुक्लपक्षी बन जाता है।

किसी राजा के राज्य में एक जबर्दस्त चोर था। वह माल के साथ साथ लड़कियां भी उड़ाया करता था और जंगल में

एक गुफा में रखता था। गुफा बड़ी लम्बी-चौड़ी थी। तमाम उड़ाई हुई लड़कियों और स्त्रियों को वह उसी गुफा में बंद कर देता था और गुफा के द्वार पर एक भारी पत्थर ढक देता था। बाहर से किसी को पता ही नहीं चल सकता था। नयी लाई हुई स्त्रियाँ दो—तीन दिन तक तो भूखी रहतीं और अपने परिवार के बिछुड़ने का शोक किया करतीं, मगर जब भूख असह्य हो जाती और खाने को मांगती तो चोर भोजन में एक ऐसी चीज मिला कर दे देता कि जिससे उन्हें बाहर जाने की इच्छा ही नहीं रहती थी। वह चोर भी उसी गुफा में रहता और मनमाने कृत्य करता था।

राजा ने चोर को पकड़ने की घोषणा की तो कोतवाल ने बीड़ा उठाया। चोर बड़ा चालाक था। वह राज्य की हलचलों की जानकारी रखता था और खास कर अपने संबंध की सब बातें किसी न किसी उपाय से जान लिया करता था। चोर को इस घोषणा का और कोतवाल द्वारा बीड़ा उठाने का पता लग गया। उसने रात्रि के समय एक सुन्दर स्त्री का वेष धारण किया। सभी अंगों को आभूषणों से सजाया और छम-छम करता हुआ शहर में आया। कोतवाल गश्त लगा रहा था। आधी रात के समय, जेवरों से लदी हुई, सुन्दरी का अकेली घूमना आश्चर्यजनक बात थी। कोतवाल उसके पास पहुँचा और उसने इस समय घर से बाहर निकलने का कारण पूछा। सुन्दरी के रूप में चोर बोला--पति के साथ मेरी अनबन हो गई है, इस कारण मैं अपने मायके जा रही हूँ। कोतवाल ने कहा-तुम खूबसूरत औरत हो और फिर गहने पहने हो।

अकेली हो। रात मे जाना उचित नहीं है। अभी कोतवाली में ठहरो। सुबह जहाँ जाना चाहोगी, मैं पहुँचा दूँगा।

बिल्ली के भाग्य से छींका टूटा। चोर वही चाहता था जो कोतवाल ने कहा। अतएव बिना आनाकानी किये, उसने कोतवाल की बात मान ली। कोतवाल उसे कोतवाली में ले गया। उसके चित्त में विकार पैदा हो गया। विषय-वासना बड़ी भयानक है। वह बड़े-बड़े वीरों को भी क्षण भर में ही पराजित कर देती है तो बेचारा कोतवाल तो किस खेत की मूली था!

जब कोतवाल के दिल में पाप-भावना उत्पन्न हुई तो उसने अपने सिपाहियों को आदेश दिया—मैं यहीं ठहरूँगा और तुम जाकर पहरा दो।

सिपाही चले गये। चोर समझ गया कि कोतवाल कामान्ध हो गया है। इसका विवेक नष्ट हो गया है। इसमें दूर की सोचने की शक्ति नहीं रही है। अतएव अब इसे उल्लू बनाना चाहिए। चोर ने कैदियों को बंद करने का खोडा देख कर पूछा कोतवाल साहब, यह क्या चीज है?

कोतवाल—इसमें चोरों और बदमाशों का पैर फँसा दिया जाता है।

चोर—किस तरह?

कोतवाल ने अपना पैर डाल कर कहा—इस तरह।

चोर—मगर पैर तो निकल जाता है!

कोतवाल—इस कीली को इसमें ठोंक दो, फिर नहीं निकलेगा।

चोर ने कोतवाल की बतलाई विधि के अनुसार कीली ठोंक दी। अब कोतवाल साहब खोडे में फँस गये। चोर ने उनका मुँह काला कर दिया, दाढ़ी और मूंछें काट लीं और फिर राम-राम करके अपना रास्ता लिया।

सुबह सिपाहियों ने कोतवाल की यह हालत देखी। राजा को भी खबर लगी। सब समझ गये कि यह उसी चोर की की करामात है! वह कोतवाल को भी ठग गया।

इसके बाद राजा स्वयं चोर को पकड़ने के लिए तैयार हुआ। एक रात्रि में राजा ने भिखारी का भेष बनाया। फटे-पुराने कपड़े पहने और एक गूदडा गले में डाल लिया। राजा शहर के बाहर जाकर कहीं पडा रहा। उधर से चोर आया चोर ने भिखारी को देखकर पूछा- कौन है? भिखारी ने आजीज़ी करते हुए कहा—मैं भिखारी हूँ! कुछ खाने को हो तो देदो!'

चोर बोला--मेरे पास अभी कुछ नहीं है। कुछ हाथ लगा तो लौटते समय तुझे निहाल कर दूंगा।

भिखारी का वेष धारण किये राजा ने समझ लिया कि यही चोर है। मगर उस समय वह कुछ नहीं बोला और उसके लौटने की राह देखने लगा। चोर धन और औरत लेकर वापिस आया। राजा ने छिपे-छिपे उसका पीछा किया। चोर अपनी गुफा के द्वार पर पहुँचा और पत्थर हटा कर भीतर चला गया।

राजा हथियारों से लैस था। वह आवश्यक सभी शस्त्र लेकर ही चला था। अतएव राजा ने चोर को ललकार कर

कहा-'अब निकल, तेरी कम्बख्ती करूँगा।' ललकार सुन कर वह ज्यों ही बाहर आया कि राजा ने बंदूक दाग दी। एक ही फायर में चोर जमीन पर गिर पड़ा। फिर राजाने पूछा-बता, धन कहाँ छिपाया है?' चोर ने वह सब स्थान बतला दिये जहाँ उसने धन छिपा रक्खा था। आखिर चोर मर गया। राजा ने सिपाहियों को बुलवा कर बतलाये हुए स्थानों से धन निकलवाया और गुफा में से स्त्रियों का उद्धार किया।

नगर में पहुंचकर राजा ने ऐलान कराया कि जिसकी स्त्री, बहिन, या लड़की को दुष्ट चोर ले गया था, अब आकर ले जाय।

भाइयो, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के नाम से इस देश का बँटवारा हुआ और उसके बाद पाकिस्तान में भी और हिन्दुस्तान में भी व्यापक रूप से दंगे हुए, मारकाट हुई, लूटपाट हुई और स्त्रियों का अपहरण भी हुआ। बहुत-सी हिन्दू स्त्रियों को मुसलमान उड़ा ले गये और उनमें से कुछ बहुत कोशिशों से वापिस लाई गईं मगर कई बिगड़े दिमाग के लोग कहते हैं कि वह स्त्रियाँ अब शुद्ध हो ही नहीं सकतीं! हिन्दू जाति की यह बड़ी संकीर्ण मनोवृत्ति है और बड़ी से बड़ी मूर्खता है। इससे बड़ी मूर्खता दूसरी नहीं हो सकती। आप इतिहास के पन्ने पलटेंगे तो मालूम होगा कि हिन्दू जाति की इस कमजोरी से दूसरी जातियों ने अत्यन्त अनुचित लाभ उठाया है। जो महिलाएँ विवश और लाचार होकर विधर्मियों के चंगुल में फँस गईं, उन्हें भ्रष्ट मान लेना और सदा के लिए बहिष्कृत कर देना और उन्हें न अपनाना हिंदुओं

के लिए कलंक की बात है। ऐसी जाति दुनिया में जीवित रहने योग्य नहीं है। जैन धर्म हर्गिज ऐसी मूर्खता का समर्थन नहीं करता!

पुरुष अपनी इच्छा से न जाने कहाँ-कहाँ भटकते फिरते हैं और अष्टाचार करते हैं, फिर भी वे अशुद्ध नहीं गिने जाते और जो बहिनें लाचारी से और पुरुषों की कायरता से गुन्डों के चक्कर में पड़ गई हैं, वे इतनी अशुद्ध हो गई कि अब शुद्ध ही नहीं हो सकती! भला इससे बढ़ कर अन्याय और क्या हो सकता है?

अगर अत्याचार का शिकार बनी हुई स्त्रियों को अशुद्ध मान भी लिया जाय तो पाँच णमोकार मंत्र और २४ तीर्थंकरों के नाम सुना देने से ही उनकी शुद्धि हो सकती है।

अफसोस है कि आर्य लोग अपनी मूल परम्पराओं को भूल रहे हैं और तुच्छ एवं हीन विचारों के शिकार हो रहे हैं। यह उनकी करणी का ही फल है कि उनकी दुर्गति हो रही है।

हां तो वह राजा ऐसे हीन विचार का नहीं था। उसने हुक्म दिया कि बहिन-बेटी हो, वह ले जाय और अपने-अपने घर में रक्खे। राजा की आज्ञा पाकर सब लोग स्त्रियों को ले गये। मगर चोर ने उन स्त्रियों को ऐसी औषधि दे रक्खी थी कि उसके प्रभाव से वे भाग-भाग कर उसी गुफा में जाने लगीं। यह हालत देख कर अच्छे वैद्य से उनकी चिकित्सा कराई गई। जिनपर चोर की औषधि ने ज्यादा असर नहीं किया था, वे जल्दी अच्छी हो गई, जिनके खून में औषधि मिल गई

थी उनके अच्छे होने में कुछ समय लगा। पर जिन स्त्रियों की रग रग में औषधि रम गई थी, उनकी बीमारी असाध्य थी। उन पर वैद्य की औषधि का कुछ असर नहीं पड़ा।

इसी प्रकार हम चार महीने तक उपदेश देंगे। जिनपर मिथ्यात्व का असर साधारण होगा, वह जल्दी रास्ते पर आ जायगा, किन्तु जो अज्ञान और मिथ्यात्व से पूरी तरह ग्रस्त हो गया है, जिसकी नस-नस में मिथ्यात्व रम गया है, उसका सही रास्ते पर आना कठिन है।

दिया स्वर्ग परदेशी नृप को, गजभव मेघकुमार।
तू आतम-ज्योति जगाइ जा, जरा-सी आई जा, ए आई जा॥
मुनि चौथमलका गाना, तू दया मेरे पर लाना।
म्हने प्रभु से वेग मिलाई जा॥

देखो, राजा प्रदेशी घोर नास्तिक और मिथ्यादृष्टि था। उसके हाथ खून से लथपथ रहते थे। वह आत्मा की, परमात्मा की, स्वर्ग-नरक और परलोक आदि की सत्ता को स्वीकार नहीं करता था। न केवल पशुओं और पक्षियों की, मगर मनुष्यों की हत्या करना उसके लिए एक मामूली खेल था। लेकिन उसका कोई पूर्वकृत पुण्य उदय में आ गया और उसे केशी श्रमण जैसे महात्मा की संगति मिल गई। महात्मा की संगति से उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई और सम्यग्दर्शन के प्रभाव से उसके लिए नरक का दरवाजा बंद हो गया। वह पहले देवलोक में पहुँच गया। यह सम्यग्दर्शन का ही महान् प्रभाव था।

मेघकुमार का जीव पूर्व भव में हाथी की पर्याय में था। मगर हे सम्यक्त्व ! तेरे प्रभाव से उस तिर्यञ्च का भी उद्धार हो गया। तू ने अपने प्रभाव से उसे मेघकुमार बना दिया !

हे समकित ! तेरी महिमा अपरिमित है, तेरा प्रभाव असाधारण है तू दिव्य ज्योति है, तू संसार सागर में गोते खाने वाले जीव को किनारे लगाने वाला सुदृढ जहाज है ! तेरी कृपा से असंख्य-असंख्य पापी जीव भी निष्पाप हो गये है हे भगवती समकित, तू दया कर और मेरे हृदय में आकर निवास कर। तेरे अनुग्रह के विना तीन काल में भी किसी का उद्धार न हुआ है, न हो सकता है और न होगा ही ! तेरे विना ईश्वर से मिलाने वाला और कोई नहीं है !

भावदेव की कथा

सम्यक्त्व के प्रभाव से ही शिवकुमार की रुचि धर्मक्रिया की ओर हुई और गृहस्थ रहते हुए भी उसने उग्र तपस्या की, जिससे उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई। स्वर्ग की आयु समाप्त करके शिवकुमार का जीव राजगृह नगर में, ऋषभदत्त सेठ के घर पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। ऋषभदत्त की पत्नी का नाम धारिणी था। धारिणी सुलक्षणा स्त्री थी। आदर्श नारी की सभी विशेषताएँ उसमें मौजूद थीं। आदर्श नारी कौन हो सकती है, इस विषय में नीतिकार कहते हैं:—

कार्येषु मंत्री करणेषु दासी, भोज्येषु माता सयनेषु रम्भा।
धर्मानुकूला च क्षमा-धरित्री, भार्या षड्गुणवती सा दुर्लभा ॥

जब पति के सामने कोई समस्या खड़ी हो और उसे परामर्श की आवश्यकता पड़ जाय तो पत्नी का कर्त्तव्य है कि वह उस समय सुन्दर ढंग से, सच्चे और हितैषी मित्र की तरह सलाह दे। इस प्रकार पति को सलाह-मशविरा देने में वह मंत्री का काम करे। जब पति की सेवा करने का समय आवे तो दासी की तरह सेवा करे। अपने को राजा की लड़की या लखपति की लड़की समझ कर ठसक में न रहे, किन्तु पति की सेविका समझ कर प्रीतिपूर्वक सेवा करे। भोजन करते समय जैसे माता अपने प्राण-प्रिय पुत्र पर प्रेमभाव रखती है, और उसके भोजन में अपने हृदय की सद्भावना का अमृत घोलती जाती है उसी प्रकार आदर्श नारी अपने पति को भोजन कराते समय प्रेमभाव रखती है। या तो वह अपने हाथ से भोजन तैयार करती है या भोजन की पूरी चौकसी रखती है और भोजन करने वालों की प्रकृति का, स्वास्थ्य का तथा देश-काल का विचार करके अपनी देख-रेख में भोजन तैयार करवाती है।

भाइयो, ऐसी विवेकवती पत्नी भी पुण्य के योग से ही मिलती है। कदाचित् कोई मूर्खा स्त्री मिल जाय तो क्या स्थिति होती है, इस संबंध में एक नजीर याद आ रही है।

एक सेठजी शहर में रहते थे, लेकिन घोड़े पर बैठकर गाँव में जाया करते थे। उस गांव में भी एक सेठ थे। उन्होंने सोचा-यह सेठजी हमेशा अपने गाँव में आया करते हैं। भोजन करा कर इनकी आवभगत करनी चाहिए। कभी मुझे शहर में जाने का काम पड़ेगा तो यह भी मेरी आवभगत करेंगे।

यह सोच कर ग्राम के सेठ ने उस सेठ को भोजन का निमंत्रण दिया और आग्रह किया। शहर के सेठ ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। सेठ का घोड़ा बँधवा दिया गया और उसे दाना-पानी डाल दिया गया। सेठ को बड़े प्रेम और आदर के साथ भोजन करवाया। इस प्रकार चार-पाँच बार उन्हें जिमाया और दोनों सेठों में घनिष्ठ प्रेम हो गया।

एक दिन गाँव के सेठ की स्त्री ने कहा-सेठ बार बार आते हैं और उनके आने पर दस पाँच रुपये स्वाहा हो जाते हैं। आखिर आपका मतलब क्या है ? क्यों इतना खर्च करते हैं ?

सेठ ने उत्तर दिया—मैं कभी शहर में जाऊँगा तो वे भी मेरी ऐसी ही खातिर करेंगे। यह तो परस्पर का व्यवहार है। ऐसा करने में किसी को घाटा नहीं पड़ता।

सेठानी ने कहा-अजी, इस खयाल में मत रहिए। शहर के लोग बड़े ही चालाक और मतलबी होते हैं। वे भोजन तो क्या, पानी भी नहीं देंगे।

सेठ-नहीं जी, ऐसा नहीं हो सकता।

सेठानी-तो शहर क्या दूर है ? कल ही जाकर देख लीजिए।

सेठ ने सेठानी की बात मंजूर करली। दूसरे दिन वह घोड़े पर सवार होकर शहर गया और उन सेठजी की दुकान के सामने से गुजरा। मगर शहरी सेठजी ने उसे देखकर मुँह फेर लिया, मानों देखा ही न हो! वह दूसरी बार फिर लौट कर निकला तो फिर वही हाल देखकर अचंभे में आ गया। उसे अपनी पत्नी की बात सच्ची मालूम होने लगी। लेकिन

वह तो पूरी परीक्षा करना चाहता था। अतएव दुकान पर पहुँच कर घोड़े से उतर पड़ा और बोला—सेठजी, राम राम !

शहरी सेठजी ने समझ लिया कि यह बलाय गले पड़ ही गई है तो उठ कर उन्होंने स्वागत किया। नौकर से कह कर उनका घोड़ा वाड़े में बँधवा दिया गया, मगर कौन डाले घास और कौन पिलावे पानी ! नौकर घोड़ा बांध कर लौटा तो सेठजी ने कहा-'जल्दी घर जा और जल्दी ही भोजन बनाने के लिए कह दे। नौकर गया और काफी देर तक राह देखने पर भी नहीं लौटा। तब सेठजी, जल्दी ही लौटने का वायदा करके स्वयं घर चल दिये।

जब सेठजी घर पहुँचे तो सेठानी ने उन्हें आड़े हाथों लिया। सेठजी को झिड़क कर वह बोली-मैं किस-किस के लिए रोटी बनाया करूँ ! यह तो शहर है। दस जाते और बीस आते हैं ! इस तरह जिमाने बैठोगे तो अन्न-क्षेत्र ही खुल जायगा ! मुझ से यह नहीं होगा। भोजन मुझ से नहीं बनेगा।

सेठ असमंजस में पड़ गया। उधर सेठ गले पड़ गया है और इधर सेठानी कुपित हो रही है ! फिर भी उसने कहा वह बिना बुलाये आ गया है। जिमाये बिना काम नहीं चलेगा ! कोई उपाय ही नहीं है।

सेठानी—अजी, उपाय खोजने से मिलता है और करने से होता है। उपाय मैं बतलाती हूँ—मैं अपने पीहर (मायके) चली जाती हूँ और आप पास के किसी गाँव में चले जाइये। राह देखते-देखते वह खुद चला जायगा।

सेठजी ने इच्छा या अनिच्छा से यही उपाय अपनाया। उधर गाँव के सेठजी राह देखते देखते थक गये। भूख से व्याकुल हो गये। आखिर वह हवेली पूछते-पूछते स्वयं वहाँ जा पहुंचे। जाकर देखा तो न सेठ का पता और न सेठानी का ही ठिकाना है! आखिर उन्होंने घोड़े को दूसरी जगह चरने को छोड़ा और स्वयं वापिस लौटकर, नौकरों की निगाह बचाकर एक भखार में छिपकर बैठ गये।

शाम हो गई। सेठ और सेठानी लौटकर हवेली आये। सेठानी बोली-आज उसे जिमाने मे खर्च होता ही, फिर अपन ही क्यों न माल खाएँ।

बाल-बच्चे बोले-हम तो आज सवेरे से ही भूखे हैं!

सेठ ने कहा मैं गाँव चला गया, इसीसे काम बना!

इसी समय भखार में से गाँव के सेठ ने कहा-मैं भी जीमे बिना नहीं टल सकता।

सेठ बहुत शर्मिन्दा हुआ। उसने कहा-भोजन तैयार है। हाथ-मुँह धो लीजिए और भोजन कीजिए।

गाँव के सेठ ने मुस्करा कर कहा-मैं सवेरे ही हाथ-मुंह धो चुका हूं। इतना कहकर वह थाल पर जम गया और जीमन लगा। जब वह निस्संकोच भाव से खूब जीम चुका तो सेठजी से राम-राम करके चल दिया। घर पहुंचने पर उसकी स्त्री ने पूछा-किस प्रकार जिमाया? सेठ बोला कुछ मत पूछो। कम्बख्ती तो कम नहीं हुई, मगर जीम कर आया हूं।

स्त्री ने कहा—शहर के लोग बेमोहब्बत होते हैं। उनमें स्नेह की तरलता नहीं होती, लिहाज और संकोच भी नहीं होता!

भाइयो, ऐसी स्थिति में क्या यह सेठ उसके घर दूसरी बार जीमने जायगा? और क्या वह उसे जिमायेगा? कभी नहीं। यह व्यवहार एक प्रकार का शिष्टाचार है। शिष्टाचार का पालन करने से कोई कभी घाटे में नहीं रहता। मगर लोगों को इतना विचार नहीं रहता।

आदर्श पत्नी का चौथा गुण यह है कि पति बाहर से थका मांदा या घबराया हुआ आवे तो अपने विनम्र व्यवहार से और मधुर संभाषण से उसकी थकावट और घबराहट को दूर करे उसकी तबियत प्रसन्न हो जाय, ऐसा व्यवहार करने वाली स्त्री घर में रंभा के समान कहलाती है।

स्त्री का पाँचवाँ गुण धर्मानुकूल होना है। वह स्वयं अपने धर्म का पालन करे, और घर का वातावरण ऐसा धर्ममय बनाये रक्खे कि बाल-बच्चों में भी धर्म के गहरे संस्कार पड़ते चले जाएँ। उपदेश से भी धार्मिकता उत्पन्न हो सकती है, मगर वातावरण से उत्पन्न होने वाली धर्म-भावना बड़ी गहरी और ठोस होती है। स्त्री अगर घर के प्रत्येक काम-काज में धर्म का खयाल रक्खेगी, यतना पूर्वक कार्य करेगी और अपने घर में अधर्म को नहीं घुसने देगी तो उसका सारा परिवार धर्म-भावना से ओतप्रोत होगा। इसीलिए शास्त्रकारों ने स्त्री को धर्म की सहायिका बतलाया है।

स्त्री का छठा गुण क्षमावती होना है । स्त्री को पृथ्वी के समान क्षमा से युक्त होना चाहिए । एक परिवार में अनेक प्रकृतियों के मनुष्य होते हैं । सब के मिजाज अलग-अलग हुआ करते हैं । कभी कोई रुष्ट होता है तो कभी कोई नाराज हो जाता है । स्त्री अपनी क्षमा की शीतलता के द्वारा सब को शान्त रखती और सँभालती है । स्त्री ऐसा न करे और बात-बात में क्रोध करने लगे तो घर कलह का अड्डा बन जाता है और क्षण भर के लिए भी शान्ति नहीं मिलती ।

आज घर घर में कलह की बातें सुनाई दे रही हैं । सास की बहू से नहीं बनती, बहू की सास से खटकती रहती है, देवरानी और जिठानी में नोंक-झोंक होती रहती है, ननद और भौजाई में आपस में वचन बाण चलते रहते हैं । इस कलह और तकरार के कारण पुरुषों को शान्ति नहीं मिलती है और सन्तान पर भी बुरा असर पड़ता है । अब तो लोग साधारणतया यह मानने लगे हैं कि एक घर में दो स्त्रियाँ नहीं खट सकती ।

इस समस्या को हल करने के लिए लोगों ने विभक्त कुटुम्ब प्रथा चलाई है । इसका मतलब यह है कि भाई-भाई अलग मकान बनाकर रहें और अपना धंधा भी अलग-अलग करें । इतना ही नहीं, पुत्र ज्यों ही कमाने खाने लायक हो जाय तो वह भी अपने पिता से अलग हो जाय ! यूरोप में यही प्रथा है और अब भारतवर्ष में भी यह प्रथा चल रही है ।

भाइयो ! जरा इस स्थिति पर विचार कीजिए । आर्यजाति की संस्कृति इतनी उदार और इतनी विशाल है कि वह

'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् संसार के समस्त प्राणी मेरे ही कुटुम्बी हैं, यह आदर्श पाठ सिखलाती है। और आज उसी उदार और ऊँची संस्कृति के गीत गाने वाली प्रजा इतनी स्वार्थी, संकीर्ण विचार वाली और क्षुद्र हृदय वाली बन गई है कि सहोदर भाई और पिता-पुत्र भी शामिल नहीं रह सकते ! जो अपने पिता और भाई को भी अपना नहीं समझ सकता वह प्राणी मात्र को अपना कैसे समझ सकेगा ? सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा मनुष्य को विशाल दृष्टि प्रदान करने वाली है, उससे दूसरों के सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख समझने की तालीम मिलती है और अपने 'अहम्' को व्यापक बनाने की प्राथमिक कक्षा है। मगर आपके मन इतने संकीर्ण होते चले जाते हैं कि आप इस प्रथा को उठाने पर उतारू हो रहे हैं ! यह एक महान् कलंक की बात है। इस बुराई का प्रधान कारण बहिनें हैं। अतएव उन्हें इस ओर ध्यान देना चाहिए। इसीलिए नीतिकार ने आदर्श नारी का गुण क्षमा बतलाया है। जिस स्त्री में क्षमा-भाव होगा वह कलहप्रिय नहीं होगी। जो कलहप्रिय नहीं होगी उसके घर में अशान्ति नहीं होगी और जिसके घर में अशान्ति नहीं होगी उसका जीवन आनन्दमय बनेगा। वह अपनी गृहस्थी को ही स्वर्ग के समान बना लेगी।

सेठ ऋषभदत्त की पत्नी ऐसी ही आदर्श नारी थी। उसके यहां कोई सन्तान नहीं थी। अब देव की आत्मा उसके गर्भ में अवतरित हुई। सेठानी को रात्रि के समय, स्वप्न में एक शुभ स्वप्न दिखाई दिया। उसने देखा-एक हरा-भरा जामुन का वृक्ष है और उसमें फल लगे हुए हैं।

स्वप्न देखकर सेठानी ने प्रसन्नता का अनुभव किया। उसने अपने पति से स्वप्न का हाल कहा। सेठ ने बतलाया तुम्हारी कूख से भाग्यशाली पुत्र का जन्म होगा।

इस स्वप्न-सूचना से दम्पति को अपार आनन्द हुआ।

जोधपुर,
ता० १७-८-४८

समयं गोयम ! मा पमायए !
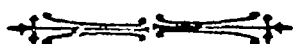
स्तुति

गंभीरताररवपूरितदिग्विभाग-
स्त्रैलोक्य-लोकशुभसङ्गमभूतिदक्षः ।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्,
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान, पुरुषोत्तम भगवान् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ! आपके लोक व्यापी यश का वर्णन मैं कैसे करूं ? आकाश में बजने वाली देव दुंदुभी आपके यश की घोषणा करती थी। उसके सामने मेरी ध्वनि नगण्य है। जब भगवान् ग्राम, नगर आदि में पधारते थे, उस समय देवगण दुंदुभी बजाकर भगवान् के यश का घोष करते थे। उसकी ध्वनि बड़ी गंभीर होती थी, और उस ध्वनि से समस्त दिशाएं व्याप्त हो जाती थीं। वह तीन लोक के प्राणियों को भगवान् के शुभ समागम की सूचना देती थी या यों कहना चाहिए की भगवान् धर्मराज—धर्म के शासक—थे और दुंदुभी उन धर्मराज की विजय की घोषणा करती थी।

इस आर्य भूमि पर इतिहासातीत काल मे ही सभ्यता और संस्कृति का विकास हो चुका था। भगवान् ऋषभदेव के समय में ही अयोध्या जैसी विशाल नगरियो का निर्माण हो चुका था। अयोध्या नगरी उस समय बारह योजन अर्थात् ४८ कोस लम्बी और नौ योजन अर्थात् छत्तीस कोस चौड़ी थी। इतनी चौडी नगरी के एक कोने मे या नगरी के बाह्य भाग मे भगवान् पधारे तो सब लोगो को कैसे पता चले कि भगवान् का पदार्पण हुआ है? अत. यह कार्य देवता करते थे। दुंदुभी बजाने से जनता को विदित हो जाता था कि तीन लोक के नाथ भगवान् ऋषभदेव पधारे है। वह मानो प्रेरणा करती थी कि तीनो लोको के भव्य जीवो को सत्सग करने का यह सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हुआ है। भगवान् नाभिनन्दन पधार गये है। धर्म के राजा, धर्म के नायक, धर्म के प्रचारक का पदार्पण हो गया है! संसार-सागर के वर यान ने इस नगरी को अपने चरण-कमलो से पावन किया है!

आजकल बडे-बडे नगरो मे जब कोई उपदेशक या प्रचारक आते हैं तो लाउड-स्पीकर (ध्वनि वर्धक यंत्र) से अथवा विज्ञापन पत्रिकाओ से उनके आने का संवाद फैलाया जाता है। पूर्व काल में तीर्थंकर भगवान् का आगमन होने पर देव-दुंदुभी से यह कार्य हुआ करता था और जो भव्य जीव भगवान् के दर्शन के लिए या धर्मोपदेश सुनने के लिए आने की अभिलाषा रखते थे, वे आजाते थे। इस प्रकार देव दुंदुभी जहाँ भगवान् की महिमा का विस्तार करती थी वहाँ उनके पदार्पण की शुभ सूचना भी देती थी। भगवान् ऋषभदेवजी को हमारा सहस्र वार नमस्कार है!

भाइयो, धर्म-क्रिया के लिए परस्पर एक दूसरे को प्रेरणा करना, सूचना करना, दलाली करना और उत्साहित करना भी महत्त्वपूर्ण धर्मकार्य है। यह सम्यग्दर्शन का फल है। जिसमें धर्म भावना गाढ़ी होगी, जो धर्म के प्रति सच्चा प्रीति रक्खेगा, वह धर्म कार्य के लिए दूसरो को प्रेरित किये बिना रह ही नहीं सकता। यह ठीक है कि प्रत्येक आदमी नगर मे घर-घर घूम कर प्रेरणा नहीं कर सकता, मगर अपने पड़ोसियों को, मिलने-जुलने वालो को और खास तौर से अपने कुटुम्ब-परिवार के लोगों को तो सभी प्रेरणा कर सकते है। इतनी दलाली करना तो प्रत्येक धर्म-प्रेमी का कर्त्तव्य है।

धर्म की साधना या आराधना करने में प्रमाद करना उचित नहीं है। कई लोग सोचा करते हैं-अभी मेरी युवावस्था है। जरा संसार के आमोद-प्रमोदों का रस चख ले, भोगोपभोग भोग ले। जब बुढापा आयगा तब धर्मक्रिया कर लेंगे।' मैं कहता हूँ कि यह विचार बड़ा ही खतरनाक है और घातक है। प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि मनुष्यों के जिन्दा रहने की कोई अवधि निश्चित नहीं है। नवजात शिशु भी मर जाते हैं, बालक भी मृत्यु के शिकार बन जाते हैं, जवान आदमी भी मौत के झपट्टे मे आ जाते हैं, राह चलते-चलते लुढ़क जाते हैं, बैठे-बैठे हृदय की गति रुकते ही प्राण त्याग देते हैं। ऐसी स्थिति में, जब कि कोई यह भी नहीं जानता कि अगले क्षण में क्या होने वाला है, बुढ़ापे का भरोसा करके बैठे रहना बुद्धिमत्ता नहीं है। कौन जानता है कि कि मेरा बुढ़ापा आयगा भी या नहीं? और कदाचित् बुढ़ापा आया भी तो उस समय शरीर जर्जरित हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। बीमारियाँ संगठित होकर हमला बोल देती

हैं। ऐसी परेशानी के समय किस प्रकार धर्म की आराधना की जा सकती है ? इसीलिए परम दयालु भगवान् चेतावनी देते हैं—

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥

—दशवैकालिक, अ. ८, गा. ३६.

भगवान् फरमाते हैं- हे जीवो ! जब तक तुम्हारे शरीर में बुढ़ापा आकर अपना दखल नहीं जमाता है, तब तक धर्म कर लो। जब बुढ़ापा तुम्हारी छाती पर सवार हो जायगा तो घर से बाहर निकलना भी मुश्किल हो जायगा। उस समय आँखो की रोशनी कम हो जायगी, कानो की सुनने की शक्ति क्षीण हो जायगी और दिमाग ठिकाने नहीं रहेगा। माथा तावूत के गुम्बज की तरह हिलने लगेगा और टांगें लड़खड़ाने लगेंगी। उस समय तू क्या साधना करेगा ? अरे भाई, उस समय तो तुझे अपना शरीर और जीवन भी भार रूप प्रतीत होने लगेगा। फिर क्यो बुढ़ापे में पर लोक सुधारने की इच्छा लिए अभी अधर्म मे लिप्त हो रहा है ? बुढ़ापे के सबंध मे नीतिकार कहते हैं:—

गात्रं संकुचितं गति विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि
दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नाद्रियते न बान्धवजनैर्भार्या न शुश्रूषते,
हा ! कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते॥

अर्थात्—बुढापे मे मनुष्य की दशा बड़ी बुरी हो जाती है। टेढ़े-मेढ़े पाँव पड़ने लगते हैं, मुँह पोपला हो जाता है। आँखो से-

दिखाई नहीं देता, बहिरापन बढ़ता चला जाता है और मुँह से लार टपकने लगती है। बूढा आदमी इतनी उपेक्षा का पात्र बन जाता है कि उसके भाई-बन्द तक उसके वचनो की परवाह नहीं करते। अर्धाङ्गिनी कहलाने वाली पत्नी तक सेवा करना छोड़ देती है। हाय ! बूढ़े आदमी के कष्टों का कहाँ तक वर्णन किया जाय ! उसका पुत्र भी दुश्मन बन जाता है !

जब चित्त में इस प्रकार क्षोभ उत्पन्न करने के कारण मौजूद हों तो शान्ति कैसे हो सकती है ? और जहाँ शान्ति नहीं है, निराकुलता नहीं है, वहाँ धर्म और अध्यात्म की साधना नहीं हो सकती। अतएव बुढ़ापा आने से पहले ही धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।

इसके बाद शास्त्र कहता है–वाही जाव न वड्ढई। अर्थात् शरीर मे बीमारी बढ़ने से पहले ही धर्म की आराधन कर लो। शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम हैं और एक-एक रोम में पौने दो-दो रोग भरे हैं। इस तरह सवा पाँच करोड़ बीमारियाँ शरीर के साथ हैं। अभी ये बीमारियाँ उपशान्त हैं इनमें से एक भी बीमारी खडी हो जायगी और वह तुझे विकल या व्याकुल बना देगी तो जीवन बोझा मालूम होने लगेगा। तेरा धर्मस्थानक मे पहुँचना भी कठिन हो जायगा। रोगो की सेना तैयार है और वह निमित्त मिलने की ही राह देख रही है। निमित्त मिला कि उसने हमला किया और हमला किया कि तेरा शरीर बेकार हुआ ! कई बीमारियाँ तो ऐसी हैं कि जीवन का एकदम ही खात्मा कर देती हैं और कई ऐसी हैं कि दिमाग को खराब कर देती हैं। इसलिए भगवान् फर्माते हैं कि पुण्य के उदय से जब

तक तू तन्दुरुस्त है धर्म करले। जब हाय-हाय करने से ही फुर्सत नहीं मिलेगी तो भगवान् का भजन क्या करेगा ?

फिर शास्त्रकार कहते हैं-'जाविंदिया न हायंति' अर्थात् इन्द्रियो की शक्ति जब तक क्षीण नहीं हुई है, तब तक धर्म करके अपने जीवन को सुधार ले। तात्पर्य यह है कि आत्मकल्याण के लिए भविष्य का भरोसा न करके वर्तमान काल का ही सदुपयोग करना चाहिए। दिन-रात सांसारिक कामों मे रचे-पचे न रह कर थोड़ा समय आत्मिक हित के लिए भी निकालना चाहिए। समझदार और विवेकवान् मनुष्य का कर्तव्य है कि वह दिन भर के कार्यों को यथावत् सम्पन्न करने के लिए कार्यक्रम बना ले और उसमें धर्मक्रिया के लिए भी समुचित समय नियत करे।

दूसरों से मुलाकात करने के लिए समय नियत करते हो तो भाई, आत्मा से मुलाकात करने के लिए भी कुछ समय नियत कर लो।

शरीर को हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ बनाने के लिए पौष्टिक खुराक खाते हो, परन्तु क्या कभी आत्मा को बलिष्ठ बनाने के लिए भी खुराक का विचार किया है ? कभी सोचा भी है कि किस खुराक के सेवन से आत्मा बलवान् बनेगा ? भाई, तेरी यह भयंकर भूल है। आत्मा निर्बल होगी तो शरीर की सबलता किसी भी काम नहीं आएगी। तलवार कितनी ही तेज क्यों न हो, अगर हाथ मे ताकत नहीं है तो उसका उपयोग क्या है !

आत्मा की खुराक क्या है ? संतो का समागम करना और आत्मचिन्तन करना। मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? कहाँ से

आया हूँ ? कहाँ जाना है ? साथ में क्या लाया था ? क्या-क्या साथ ले जाऊँगा ? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करना ही आत्मा की खुराक है। खेद है कि तुम आत्मा को यह खुराक नहीं देते और शरीर का पोषण करने में ही लगे रहते हो। तुमने भले शरीर को सबल बनाया हो, मगर आत्मा को निर्बल बना लिया है।

भाइयो ! तुम भूल क्यों रहे हो ? अरे ! तुम शरीर नहीं हो, शरीर के स्वामी भी नहीं हो। शरीर जड़ है, क्षणभंगुर है, अशुचि है और आपत्तियों का भंडार है। तुम सत्-चित्-आनन्दमय हो, अलौकिक ज्योति के परम पुंज हो, संसार के समस्त प्रकाश तुम्हारे ही प्रकाश से प्रकाशमान हैं, तुम निर्मल, निष्कलंक, निर्विकार हो, पावन हो ! बाहर की तरफ से अपनी दृष्टि हटा कर जरा भीतर की ओर देखो। वहाँ आनन्द का असीम सागर लहरें मार रहा है। अनन्त ज्ञान की ज्योति जगमगा रही है ! मगर तुम्हें यह सब देखने और सोचने की फुर्सत ही कहाँ है ? तुम शरीर को ही अपना स्वरूप समझ बैठे हो। ज्ञानी जनों के संबोधनों को भी नहीं सुनते हो ! तब कैसे आत्मा का स्वरूप समझोगे ?

सच्चा कल्याण चाहते हो तो जरा गंभीर विचार करो। आत्मा को भी कुछ खुराक दो और उसे बलवान् बनाओ। आत्मा की खुराक को उर्दू में रूहानी गिजा कहते है। आत्मा बलवान् होगी तो फिर उसे कोई दबा नहीं सकेगा। जिस की आत्मा बलवान् होती है वह स्वर्ग का अधिकारी होता है और जिसकी आत्मा कमजोर होती है उसे यमदूतों के कब्जे में जाना पड़ता है। अब तुम स्वयं निर्णय कर लो कि तुम स्वर्ग में जाना चाहते हो या यमदूतों के कब्जे में ? आत्मा की खुराक महँगी नहीं है। सवेरे निर्ग्रन्थ

प्रवचन के दो अध्याय भी पढ़ लिए और उन पर थोडा मनन कर
लिया तो आत्मा का भोजन हो जायगा। इससे अधिक कर सको
तो अच्छा ही है। न कर सको तो इतना तो कर ही लिया करो।
स्वाध्याय करने में भूखा नहीं रहना पडता और भी कोई कष्ट नहीं
सहना पड़ता। खूब खाना, पीना और अमरिया बकरे की तरह
पडे रहने से काम नही चलेगा। भ्रम मे मत रहो, तुम्हे पड़ा नहीं
रहना है। आगे जाना है और जाना ही पड़ेगा। उस यात्रा के
लिये पहले से ही तैयारी न करोगे तो बुरी तरह पछताना पडेगा
और उस समय पछताने से भी कोई लाभ नहीं होगा। इसलिए
ज्ञानी पुरुष तुम्हारी आँखे खोल रहे हैं। सावधान कर रहे हैं।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी
से कहा है:—

दुमपत्तए पंडुरए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एव मणुयाण जीवियं, समय गोयम ! मा पमायए ॥

अर्थात्—जैसे समय व्यतीत होने पर पेड का पत्ता पीला
पड़ जाता है तब किसी भी समय उसका पतन हो सकता है,
वह कब तक वृक्ष मे लगा रहेगा, यह कोई नहीं कह सकता,
हवा का हल्का-सा झौका लगते ही वह वृक्ष से अलग होकर
नीचे गिर पडता है। मनुष्यों की जिंदगी का भी यही हाल है।
मनुष्य की जिंदगी किस क्षण समाप्त हो जायगी, कोई नहीं कह
सकता। अतएव गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर!

भगवान् ने मानव-जीवन की क्षणभङ्गुरता दिखलाते हुए फिर
कहा है:—

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

अर्थात्—दूब की नौंक पर लटकता हुआ ओस का बूंद जैसे थोड़ी ही देर ठहरता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी बहुत समय तक रहने वाला नहीं है। हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

भाइयो ! जरा गहराई से विचार करो। गौतम स्वामी भगवान् के सबसे बड़े शिष्य थे। वे चार ज्ञान के धनी, चौदह पूर्वो के ज्ञाता और उत्कृष्ट संयम का पालन करने वाले थे भगवान् ने उन्हें भी प्रमाद को त्यागने की प्रेरणा की है। आप गौतम स्वामी के साथ अपनी तुलना करो। जब उन्हें भी अप्रमत्त रहने की आवश्यकता है तो आपको कितनी आवश्यकता न होगी ?

मनुष्य के शरीर की बड़ी महिमा है। यह शरीर बडे ही पुण्य के उदय से प्राप्त होता है।। यह शरीर सोने का है। भाई, सोने की थाली में लोहे की मेख मत लगा। उत्तम वस्तु में हीन वस्तु का संयोग कर देना सोने की थाली में लोहे की मेख लगा देना कहलाता है। कोई पढ़ा-लिखा उच्च कोटि का विद्वान हो और वह परस्त्री के साथ छेडछाड़ करे तो समझना चाहिए कि उसने अपनी विद्वत्ता में बट्टा लगा लिया। उसने सोने की थाली में लोहे की मेख ठोक ली अतएव यह उत्तम मनुष्य-शरीर पाकर धर्म आचरण करके इसका सदुपयोग करलो। कहा है:—

यह काया कंचन से बेहतर,
यह मिट्टी से बदतर है।
इसे पाय शुभ कर्म जो करता,
वही बडा ज्ञानी नर है॥

भाइयो, एक भील था। उसके घर मे पत्नी और बाल बच्चे भी थे। वह बहुत गरीब था और जंगल से लकड़ियाँ काट-काट कर, और उन्हें बेंचकर अपना गुजारा करता था। हमेशा की तरह वह एक दिन जंगल में गया। उस दिन इतने जोरो की बारिश हुई कि मिट्टी और पत्थर भी इधर के उधर हो गये। रात्रि हो गई। रास्ता दिखाई नहीं देने लगा। वह लाचार हो कर रात को वहीं रह गया। दूसरे दिन जब वह लकड़ियाँ काटने के लिए इधर-उधर फिर रहा था, उसे सोने का एक बर्तन मिल गया। उसके नीचे पाँच अत्यन्त मूल्यवान् हीरे जड़े हुए थे। भील बर्तन देख कर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सोचा-चलो, राबडी पकाने का एक बर्तन तो मिला! मिट्टी के बर्तन बार-बार फूट जाते हैं। यह धातु का बर्तन जल्दी नहीं फूटेगा।

भील बर्तन लेकर आगे चला तो उसे बावने चंदन का एक वृक्ष मिला। उसने उसमे से लकडियाँ काटीं और भारा बाँध कर घर की ओर चला।

भील ने घर पहुँच कर अपनी औरत मे कहा-भूखा हूँ। क्या बनाया है?

स्त्री ने कहा—लकडियाँ तो थीं ही नहीं, बनाती काहे से?

भील बोला-ले, यह पडी हैं लकडियाँ। जल्दी से राबड़ी बना दे।

भील की स्त्री ने जल्दी से बाजरे का आटा पानी मे घोला और चूल्हे पर चढ़ा दिया। उसने वही चदन की लकडियाँ चूल्हे मे लगा दी। राबडी पकने लगी।

मगर ज्यों ही चंदन की लकडियो मे आग लगी, सारे शहर मे उसकी खुशबू महक उठी। यह चंदन बहुत कीमती होता है। लोग कहते हैं, एक तोले के बहुत रुपये लग जाते है। मगर उस मूर्ख को उसकी कीमत का पता नही।

उस शहर मे एक धनाढ्य और धर्मात्मा श्रावक रहते थे। जब उनकी नाक तक वह सुगंध पहुंची तो वे तत्काल समझ गये कि यह बावने चंदन की सुगंध है। वे उस गंध के सहारे-सहारे भील की झौंपड़ी मे जा पहुंचे। उन्होने उस लकडी को जलती देख तत्काल चूल्हे मे से बाहर निकाल ली। यह हाल देख भील को गुस्सा आया। वह तीर-कमान लेकर और छाती तान कर खड़ा हो गया। बोला-'मार दूंगा जान से!

सेठ बोला- मार मत। यह ले दो रुपया।

भील खुश हो गया। कहने लगा- तो यह भारा तुम्हारे घर पटक आऊँ?

इतने में ही सेठजी की नजर सोने के बर्तन पर पड़ी, जो चूल्हे पर चढा हुआ था। उन्होने उसे उतार लिया।

इस पर भील फिर चिल्लाया कि अरे, मेरी राबडी बिगाड दी! मगर सेठ ने उसे फिर पाँच रुपये देकर शान्त कर दिया। फिर

सेठ ने कहा–ठाकुर, तू अपने बाल-बच्चों को मेरे घर ले चल। मैं तुझे रावडी के बदले कलाकंद खिलाऊँगा। भील प्रसन्नतापूर्वक अपने बाल-बच्चों को सेठ के घर पर ले आया। सेठ ने लकडी का भारा और बर्तन लेकर कहा-मैं तुझे इनके बदले में कितनी रकम दूं? सौ रूपये दूं, हजार दूं, लाख दूं या करोड दूं?

भील बोला–सेठजी, क्या आप मुझे कोतवाली में भिजवाना चाहते है? मुझे हजार-लाख नहीं चाहिए। आप तो सिर्फ दस रूपया दे दीजिए।

'सेठजी मन ही मन मुस्कराये। उनकी एक नई हवेली थी। वह हवेली दिखलाकर सेठ बोले—तुम अपने बाल-बच्चों के साथ इसमें रहो। मैं खाने-पीने का सारा प्रबंध कर दूंगा। तुम्हारा माल बहुत कीमती है। मैं बेईमानी नहीं करना चाहता।

कोई और होता तो क्या ऐसा मौका खोता? मगर सेठ धर्मात्मा था। उसने भील को अपनी हवेली दे दी और उसके सारे खर्च की जिम्मेदारी अपने माथे ले ली। एक दिन भील बोला—'सेठजी, और कुछ नहीं तो मुझ से भी बर्तन ही मंजवा लिया कीजिए।' अब सेठ ने उत्तर दिया—भाई, तू मुझ से भी बडा सेठ है! तू आनन्द मे रह और मौज कर।

उस शहर मे एक दिन मुनि पधारे। सेठजी उस भील को भी अपने साथ दर्शन कराने ले गये। मुनि ने सब हाल सुनकर सेठ से कहा–यदि तू ने व्रत नहीं लिया होता तो बेईमानी कर जाता!

यह सब बातचीत सुनकर भील ने कहा—महाराज, मुझे भी कुछ ज्ञान दीजिए।

मुनि ने कहा—किसी जीव की हिंसा मत करना। यही सबसे बड़ा व्रत है। इस व्रत में सारा ज्ञान समाया हुआ है। धीरे-धीरे तुम उसे समझ जाओगे।

भाइयो! मुनिराज हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि के त्याग का उपदेश देते हैं। यह उपदेश अनमोल धर्म-धन है। अतः साधु तुम्हें जो धर्म-धन देते हैं, वह तुम्हारे माता-पिता भी नहीं दे सकते।

बाप से बेटे को जो धन मिलता है उसकी क्या कीमत है!

वह धन तो उलटा अनर्थ का कारण होता है। वह ज्यादा हो गया और धर्म-धन न हुआ तो मनुष्य क्या करेगा? मस्ती में पडा रहेगा और ब्रांडी पीएगा और अंडे चूसेगा! इस प्रकार पौद्‌गलिक धन आत्मा को नरक में ले जाने का ही साधन है। इसके विपरीत सद्‌गुरु के द्वारा प्रदान किया हुआ धर्म-धन इस लोक को भी सुधारता है और परलोक को भी सुधारता है। अतएव कहा है:—

गुरु बिन जग में कौन उपकारी!

या सम जग में नांही दूजा, देखा नयन पसारी।

भाई, कहो न, गुरु के बराबर उपकार करने वाला दूसरा कौन है? देखो, सद्‌गुरु ने उस सेठ को मर्यादा करा दी थी कि वेहक़ का माल नहीं लेना तो उसने गरीब के गले पर छुरी नहीं चलाई! क्या आप ऐसी प्रतिज्ञा करने को तैयार हैं? आप हरी न खाने का त्याग कर देते हैं मगर कोई ऐसा भी है जो हराम का माल न खाने की प्रतिज्ञा करे?

कहने का तात्पर्य यह है कि बड़े भारी पुण्य की पूंजी खर्च करके आपने यह मनुष्य शरीर खरीदा है। इसे विषय भोगो में मस्त होकर ही मत गँवाओ। इससे पाप का संचय मत करो। समझदार व्यापारी वही कहलाता है जो अपनी पूंजी को बढ़ाता जाय। पूंजी घटाने वाला व्यापारी मूर्ख कहलाता है। तुम व्यापारी के बेटे हो और खुद भी व्यापारी हो। फिर क्यों मेरी बात पर कान नहीं देते ? जिस धर्म के प्रताप से तुम्हे मनुष्य का जीवन मिला हैं, आर्यत्व प्राप्त हुआ हैं, नीरोग शरीर और परिपूर्ण इन्द्रियाँ मिली हैं, उस धर्म को बढ़ाने का प्रयत्न क्यों नही करते ? पूंजी को गारत क्यों कर रहे हो ? सच समझो, आज धर्माचरण करने की जो सुविधा तुम्हे प्राप्त है, वह कल नहीं रहेगी, इसी से मैं जोर देकर कहता हूँ कि भविष्य के भरोसे मत रहो। जो करने योग्य है, उसे कर ही डालो।

तुम्हारा शरीर सोने के बर्तन के समान है। इसमें पॉच हीरो के समान पाँच इन्द्रियाँ है। जानते हो, इन इन्द्रिय रूपी हीरो का क्या मोल है ? किसी राजा की ऑख फूट जाय और वह चाहे कि मैं अपना सम्पूर्ण राज्य देकर उसके बदले मे आँख प्राप्त कर लूं, तो भी वह नहीं पा सकता ! तो मनुष्य की एक ही आँख का मूल्य राज्य से भी बढकर है। संसार का सारा वैभव देने पर भी आँख नहीं मिल सकती। हॉ, नकली ऑख अवश्य मिल जाएगी, मगर काम के वक्त वह निरर्थक साबित होगी। इसी तरह अन्य इन्द्रियाँ भी अनमोल है। मगर मूर्ख मनुष्य को इनका मूल्य मालूम नहीं है।

जैसे भील सोने के पात्र मे राबडी पकाता था, उसी प्रकार अज्ञान पुरुष यह अनमोल मानव-तन पाकर भंग पीने, चरस पीने

या मदिरा पीने में मस्त रहता है। कोई धन-दौलत के फेर में पड़ा रहता है और कोई बाल-बच्चो की ममता में डूबा रहता है। यह सब सोने के पात्र मे रावड़ी पक रही है। समय चला जा रहा है। जैसे बावने चंदन की लकड़ी जल रही है उसी प्रकार आयु बीतती चली जाती है। लकड़ी का जो भाग जल जाता है वह खाक बन जाता है। उससे फिर लकड़ी नहीं बनाई जा सकती। इसी प्रकार बीती हुई उम्र फिर कभी नही मिल सकती। यह बावने चंदन से भी अधिक मूल्यवान् है! मगर कूंजड़ा-मूंजड़ा को ज्ञान लगना मुश्किल है।

बीमारी हो जायगी तो दस-पाँच हजार रुपया खर्च कर देने में संकोच नहीं होगा, परन्तु यदि परोपकार के लिए कहा जाय तो उत्तर मिलेगा-आज-काल व्यापार ठंडा है! चार छोकरियाँ पहले से ही मौजूद हैं और पाँचवी हो गई तो उसके विवाह के लिए बीस हजार निकल आएँगे। मगर धर्म कार्य मे खर्च करते नहीं बनेगा ! मगर यह सब रावड़ी पकाने के लिए चन्दन की लकड़ी जलाना है। वह जल जायगी तो कुछ मिलने वाला नहीं है। इस जीवन मे आपको लेना क्या है?

ले लो ले लो जगत् में भलाइयाँ रे,
छोड़ो छोड़ो ये सारी बुराइयाँ रे ॥

भाइयो! सोने के शरीर में लोहे की कील मत लगाओ। मोह के चक्कर में पड़कर मेरा-तेरा कर रहे हो, लेकिन इस तरह कब तक मौज करते रहोगे? देखते-देखते कई आदमी ऊँचे से नीचे गिर गये और कई नीचे से ऊँचे चढ़ गए। जो गिनती में भी नहीं आते

थे वे गिनती में आने लगे। अरे भाई, राम-लक्ष्मण भी जैसे के तैसे न रहे तो तू किस खेत की मूली है ? तू समझता है कि यह महल-मकान और धन-दौलत मेरी है। मगर—

किस गफलत की नींद में सोता पड़ा,
तेरा जावेगा हंस निकल एक पल में।
यह तो दुनिया है देख मिसाले रंडी,
कभी उसकी बगल कभी उसकी बगल में ॥

भाइयो ! गफ़लत में क्यों पड़ते हो ? मत समझो कि आज जो सम्पत्ति तुम्हारे अधीन है, वह तुम्हारी है और तुम्हारे ही पास रहने वाली है। यह तो आती रहती है, जाती रहती है और कभी किसी के पास और कभी किसी के पास पहुँचती रहती है। प्रत्यक्ष देख तो रहे हो कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा, सेठ साहूकार और जमींदार-जागीरदार पल भर मे सारा वैभव छोड़कर चल देते हैं। उनके अखूट भंडार यहीं पड़े रह जाते हैं। साथ में एक पाई भी नहीं जाती। आज तक संसार मे जिसने जन्म लिया, कोई मौत से नहीं बचा और न कोई अपना वैभव साथ ले जा सका। फिर क्या तुम्हीं अकेले ऐसे जन्मे हो कि अपनी धन-दौलत साथ ले जा सकोगे ? क्या तुम्हे विश्वास है कि तुम ऐसा कर सकोगे ? तुम्हारा हृदय क्या गवाही देता है ? अगर नहीं ले जा सकोगे तो फिर रात-दिन वैभव को बढ़ाने मे ही क्यों जुटे रहते हो ? सारी जिंदगी धन-दौलत के लिए क्यों गँवा रहे हो ? रात-दिन दुनिया के ही पचड़ों मे क्यों पड़े रहते हो ? अपने जीवन को वृथा क्यों नष्ट कर रहे हो ?

मत राचो संसार में, जोग मिल्यो है आय।
भजन करो भगवान् का, जन्म सफल हो जाय॥

हे भव्य जीव! तुझे बहुत ही अनुकूल संयोग मिला है। आत्मा का कल्याण करने के लिए जिस सामग्री की आवश्यकता होती है, वह सब तुझे इस समय मिल गई है। ऐसे अपूर्व अवसर को पाकर तू संसार में अनुरक्त मत हो। वर्तमान जीवन थोड़े ही दिनों का है और भविष्य अनन्त है। उस अनन्त भविष्य की उपेक्षा करके अल्पकालीन जीवन मे मस्त हो रहा है? हे भद्र! यह तेरी बड़ी से बड़ी मूर्खता है। इतनी बड़ी कि इससे बड़ी मूर्खता दूसरी नहीं हो सकती। अरे भाई, यह स्वर्ण-अवसर पाया है तो जरा भगवान् का भजन कर ले। भगवान् का भजन करने से तेरा जीवन सफल हो जायगा। यह जीवन सफल हो जायगा और भविष्य का जीवन भी मंगलमयी बन जायगा। तेरा अनन्त भविष्य कल्याणमय और आनन्दमय बन जायगा। थोडी देर एकाग्र होकर मेरी बात पर विचार करना। सचाई अपने आप मालूम होने लगेगी। तुम्हें थोड़ा-सा समय मिला है। इसका सदुपयोग कर लो। इसमे जो जीत गया सो जीत गया और हार गया सो हार गया। यही है बाजी, कर ले भगवान् को राजी!

मत समझो कि तुम सदैव इसी स्थिति में रहे आओगे। आज हो, कल नहीं भी रहोगे। दुनिया तो पक्षियों का मेला है। संध्या होने पर नाना देशों से और अनेक दिशाओं से पक्षी आ-आकर इकट्ठे हो जाते हैं और रात भर एक साथ रहते है। प्रातःकाल सब उड़ जाते है। कोई किधर जाता है, कोई किधर जाता है।

कहा है—

यह संसार सुपन की माया और फकीर की सी फेरी है ।
मत राचो संसार में प्राणी, यहां कोई चीज नहीं तेरी है ॥

भाइयो ! संसार स्वप्न की माया है । यह सत्य इतना स्पष्ट है कि प्रत्येक की समझ मे आ सकता है । फिर लोग भ्रम में क्यों पड़े हैं ? स्टेशन आने पर रेल के डिब्बे मे से उतरना पड़ेगा । इसी प्रकार मौत आएगी तो तुम्हे यहाँ से रवाना होना पड़ेगा । यमदूत आएँगे तो जाने से इंकार नहीं कर सकोगे । यह नहीं कह सकोगे कि—जरा ठहर जाओ, डाक्टर को बुला लें और एक खुराक दवा ले ले ! यह भी नहीं कह सकोगे कि अभी-अभी नवीन हवेली बनवाई है, नया बंगला तैयार करवाया है और अभी मौज नहीं कर पाई है, अत. अभी नहीं चलते । उस समय तेरी एक भी नहीं चलेगी । एक भी क्षण का विलम्ब किये बिना, चुपचाप चल देना होगा ।

बावने चन्दन की लकडी जलती जा रही है । उम्र बीतती जा रही है । क्षण-क्षण मे, पल-पल मे वह कम हो रही है । तुझे खयाल ही नहीं है ! तू समझ बैठा है कि मैं सदा यहीं रहूँगा ! इसी कारण गरीबों को कुचल रहा है, मसल रहा है । किन्तु समय आ रहा है कि तेरी सारी अकड निकल जायगी, मस्ती काफूर हो जायगी और तेरे कृत्य ही तुझे पश्चात्ताप करने को विवश करेंगे । जब बकरा कसाई की छुरी के नीचे आ जाता है तो बें-बें करता है, छटपटाता है, मगर उससे उसकी रक्षा नहीं होती । भव्य प्राणी, तू समझ-बूझकर क्यों इस हालत मे पडने को तैयार हो

रहा है। अरे, पहले ही चेत जा। मैं तुझे चेतावनी दे रहा हूँ! संभल, सोच और अपनी चाल-ढाल बदल दे। कुछ भलाई के काम कर।

प्रणय या संसार में रावण रहा न राम।
केवल जग में रह गया, दूषित भूषित नाम॥

रावण भी गया और राम भी गये। रावण नरक में गया और राम निरंजन पद को प्राप्त हुए। दोनों अपने-अपने रास्ते गये, लेकिन एक दुनिया में अपनी बदबू छोड़ गया और दूसरा खुशबू छोड गया। लाखों-करोडों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी आज तक लोग रावण को प्रतिवर्ष जलाया करते हैं और उसके नाम से घृणा करते हैं। दूसरी ओर राम को श्रद्धा और भक्ति के साथ स्मरण करते हैं, उनकी पूजा करते है और उन्हे मर्यादा-पुरुषोत्तम मानते हैं। रावण की निन्दा और राम की प्रशंसा होती है। अब तुम सोच लो कि तुम्हे किस श्रेणी मे रहना है?

राम की श्रेणी मे रहना सभी को पसंद है। रावण की श्रेणी में कोई नहीं रहना चाहता। मगर राम की श्रेणी मे रहने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, उनकी ओर कितने लोग ध्यान देते हैं? लोगों को हराम का माल खाने की आदत पड़ गई है। बिना परिश्रम किये, दूसरे के परिश्रम का फल भोगना सब को अच्छा लगता है। इसी तरह बिना कुछ किये आदर-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठा मिल जाय तो उसे क्यों नहीं चाहेंगे? मगर नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। राम की श्रेणी में खड़े होने के लिए राम के समान जीवन बनाना पड़ेगा। राम की निस्पृहता का जरा विचार

करो। उन्होंने न्याय से प्राप्त होने वाले राज्य को भी तृण की तरह त्याग दिया और आप स्वयं वनवास के लिए तैयार हो गये। जिसमें इतनी निस्पृहता होगी, उदारता होगी, जो दूसरों पर दया करेगा, परोपकार करेगा और बीड़ी, तम्बाखू, भग गाजा आदि मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करेगा, वही राम की श्रेणी मे सम्मिलित हो सकेगा। जब राम के मन्दिर में भी बीडी, तमाखू आदि नहीं चढ़ाई जाती तो राम के भक्त उनका सेवन कैसे कर सकते हैं। जो राम के भक्त होंगे वे हाथ ऊँचा करके इन मादक वस्तुओं के सेवन का परित्याग करेंगे।*

(हाथ ऊँचे होते हैं)

देखना, नकली भक्त मत बनना। राम आज नहीं है मगर उनका यश आज भी सब के जीभ पर है। आपने हाथ ऊँचे किये हैं परन्तु सच्चे दिल से और दृढ़ता के साथ अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना। आप एक बार फिर विचार करो।

(फिर हाथ ऊँचे होते है)

भाइयो, मनुष्य-जीवन पाकर इसका पूरा-पूरा लाभ उठा लो। यह दुर्लभ भव बार बार नहीं मिलेगा। जीवन का पूरा लाभ उठाने के लिए जैसे बाह्य वस्तुओं के त्याग को आवश्यकता है, इसी प्रकार अन्तरग में रहे हुए क्रोध आदि विकारो को नष्ट करने की भी आवश्यकता है। क्रोध आदि विकारो का त्याग करके क्षमा आदि

---

* मुनिश्री के इस कथन पर बहुत से लोगों ने अपने-अपने हाथ ऊंचे करके बीड़ी, तमाखू, भङ्ग, गाजा आदि का त्याग किया। त्याग करने वालों में जैन और जैनेतर सभी भाई सम्मिलित थे।

भावों को धारण करने से चित्त की शुद्धि होती है। अतएव अगर मेरी शिक्षा मानो तो कभी किसी से वैर-विरोध मत करो। चित्त की दुर्बलता के कारण कभी आवेश आ जाय और उस आवेश मे विरोध हो जाय, क्रोध आ जाय, तो पश्चात्ताप करके हाथ जोड़ कर उससे क्षमा माँग लो। क्रोध बड़ा ही भयानक दुर्भाव है। क्रोध एक प्रकार का पागलपन है। जैसे पागल मनुष्य को न अपने हित-अहित का भान रहता है और न दूसरो के हिताहित का खयाल रहता है, इसी प्रकार क्रुद्ध मनुष्य भी भलाई-बुराई का भान भूल जाता है। क्रोध के कारण कभी-कभी आत्महत्या तक कर डालते हैं। वह स्वयं जलता है और दूसरो को भी जलाता है। कदाचित् दूसरो को न जला सके, मगर स्वयं तो जलता ही है। क्रोध को चाण्डाल की उपमा दी जाती है। वास्तव मे देखा जाय तो असली चाण्डाल क्रोध ही है। जिसके चित्त मे क्रोध का वास है वह स्वयं चाण्डाल है।

इसी प्रकार वैर भी घोर हानिकारक दुर्गुण है। वैर के कारण आत्मा सदैव मलिन बना रहता है। जिस आत्मा मे वैर की भावना रहेगी, वह निर्मल नहीं हो सकेगा। इसीलिए मै कहता हूँ कि तू किसी के प्रति वैर मत रख। शास्त्र में कहा है—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ॥

भाइयो! अपने मन को स्वच्छ और निर्मल रक्खो। सदैव यह भावना रक्खो कि मैं सब जीवो को अपनी ओर से क्षमा प्रदान करता हूँ और सब जीवो से क्षमा की याचना करता हूँ।

संसार के समस्त जीव मेरे मित्र हैं। किसी के साथ मेरा वैरभाव नहीं है।

जो मनुष्य ऐसी पवित्र और उदार भावना रक्खेगा उसका हृदय पवित्र रहेगा। उसके हृदय में कषाय की तीव्रता नहीं होगी। वह अपने सरल और विनम्र व्यवहार से अपने विरोधियो को भी शान्त कर लेगा। वह दूसरों को हानि नहीं पहुँचायगा और स्वयं भी दूसरो से हानि नहीं उठाएगा। उसका जीवन आदर्श बनेगा। उसके चारो ओर प्रसन्नता और प्रमोद का वायुमण्डल रहेगा। उसे किसी प्रकार की आकुलता नहीं रहेगी। वह उधेड़-बुन में नहीं फँसा रहेगा। उसे सभी से प्रेम और स्नेह मिलेगा। उसके जीवन में आनन्द ही आनन्द लहराएगा। सुखी बनने का यह सर्व-श्रेष्ठ मार्ग है और इस मार्ग मे कांटे नहीं हैं, कंकर नहीं हैं। कदाचित् उपवास करने में कष्ट हो सकता है परन्तु क्षमाभाव धारण करने मे तनिक भी कष्ट नहीं है; उलटी शान्ति है, अना-कुलता है और रस है।

अतएव क्षमा का भाव मन में लाओ और मोक्ष मे जाओ। फिर कभी कुत्ते की योनि मे नहीं जाना पड़ेगा। प्राणी मात्र को अपना मित्र समझोगे तो फिर नरक का काम नहीं रहेगा।

तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन एक अनमोल सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति जिन्हें परम पुण्य के योग से प्राप्त हो गई है, उन्हें गहरा विचार करना चाहिए कि किस प्रकार इसका अच्छे से अच्छा उपयोग हो सकता है ? किस प्रकार इस जीवन से भविष्य को मंगलमय बनाया जा सकता है ? अगर आप यह विचार करेंगे तो स्वयं ही धर्म की ओर आपकी रुचि दौड़ेगी और आप

धर्म का आचरण करने मे सावधान रहने लगेंगे । जब आप धर्म का आचरण करें तो उससे पहले धर्म के वास्तविक स्वरूप को भी अवश्य समझ ले । जैसे प्रत्येक वस्तु के वाह्य और आभ्यन्तर—यह दो रूप होते है, उसी प्रकार धर्म के भी दो रूप हैं । अमुक वस्तु न खाना आदि धर्म का वाह्य रूप है और चित्त को क्रोध आदि का त्याग करके कपायहीन वनाना धर्म का आन्तरिक रूप है । वाह्य रूप का भी महत्त्व है, पर आन्तरिक रूप का और भी अधिक महत्त्व है । अतएव आप धर्म के आन्तरिक रूप पर भी विचार करे और उसका पालन करे ।

धर्म का आचरण करने वाले को इस काल मे इसी जीवन से मोक्ष भले न मिले, मगर वह स्वर्ग का अधिकारी तो होता ही है । स्वर्ग से च्युत होकर धर्मात्मा जीव सब प्रकार के वैभव से युक्त परिवार मे जन्म धारण करता है और अपना कल्याण भी कर लेता है । इस तथ्य को समझने के लिए जम्बूकुमार के चरित पर विचार करना चाहिए ।

भावदेव की कथा—

सेठ ऋषभदत्त ने अपनी पत्नी से कहा—प्रिये ! तुम्हारे उदर से महापुण्यशाली पुत्र का जन्म होगा । यह सुनकर धारिणी की प्रसन्नता का पार न रहा । वह अत्यन्त सावधानी से गर्भ का प्रतिपालन करने लगी । पति-पत्नी उसी समय से ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने लगे । यों तो ब्रह्मचर्य सदैव लाभकारक है और प्रत्येक को अपनी शक्ति के अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन करना ही चाहिए, परन्तु जब यह मालूम हो जाय कि गर्भधारण हो गया है, तब से लेकर जब तक बच्चा दूध पीना न छोड़ दे तब तक तो ब्रह्मचर्य

का पालन अवश्य ही करना चाहिए। यह नियम पशुओं में प्राकृतिक ढंग से चला आ रहा है। तभी उनकी सन्तान हृष्ट-पुष्ट होती है। उन्हे मनुष्यो की तरह दवाओं के सहारे अपना जीवन नहीं व्यतीत करना पड़ता और न पेट को दवाखाना बनाना पड़ता है। जो मनुष्य इस नियम का पालन नहीं करते, उनकी संतान मरी हत्या सरीखी होती है। पत्नी भी अपना स्वास्थ्य खो बैठती है। इसलिए खास तौर से पुरुपो का कर्त्तव्य है कि वे अपने ऊपर, अपनी पत्नी के ऊपर और अपनी सन्तान के ऊपर दयाभाव रख कर ऐसे समय मे ब्रह्मचर्य का अवश्य पालन करें।

जब कोई पुण्यात्मा जीव गर्भ मे आता है तो उसके पुण्य के प्रभाव से माता को भी अच्छा ही दोहद होता है। कहा भी है,-

पुण्यवान् गर्भ में आवे, माता ने लड्डू जलेबी भावे।
साधु—मतियों की सेवा चावे, नित उठने धर्म कमावे ॥

अर्थात् जब पुण्यशाली जीव माता के उदर मे होता है तो माता को राख या मिट्टी जैसी वस्तुओ को खाने की इच्छा नहीं होती, वल्कि अच्छे-अच्छे मिष्टान्न खाने की इच्छा होती है। उसे धर्मश्रवण करना अच्छा लगता है। हृदय मे दया और परोपकार की भावना जागृत होती है। वह किसी के प्रति वैर विरोध का भाव नहीं रखती। प्रेम से परिपूर्ण रहती है। उसमे सुरुचि जागती है।

जब पाँचवें तीर्थंकर भगवान् सुमतिनाथ अपनी माता के गर्भ मे आये तब की एक घटना प्रसिद्ध है। उस समय एक सेठ था और उसकी दो स्त्रियाँ थीं। एक के लड़का था और दूसरी

निस्सन्तान थी। सेठ व्यापार के निमित्त अपनी दोनो स्त्रियों को साथ लेकर परदेश गया था। व्यापार करके जब वह लौट रहा था तो जहाज में, मार्ग में ही उसका देहान्त हो गया। जिस स्त्री के पुत्र नहीं था उसने उस पुत्र को अपना बना लेने की सोची। वह बड़ी चालाक थी और दूसरी सरल स्वभाव की थी। उसने बच्चे पर लाड़-प्यार करना आरंभ किया और उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। जब बालक उससे हिल गया तो उसने यह दावा किया कि यह बालक मेरा है। उसने बालक को प्रेम से अपनी ओर खींच लिया था, जिससे बालक भी उसे माँ समझने लगा था। वह अपनी असली माता के पास भी नहीं जाता था।

बालक की माता अपनी सौत का बालक पर अत्यन्त स्नेह देखकर पहले तो प्रसन्न हुई, परन्तु जब सौत ने बालक पर अपना कब्जा जमा लिया तो वह घबराई। दोनों लड़ती-झगड़ती अपने देश में पहुँची और न्याय कराने के लिए राजा के पास गई। राजा ने बहुत दिमाग लगाया और खूब छानबीन की किन्तु वह नहीं समझ सके कि वास्तव में यह बालक किसका है और किसका नहीं है! प्रातःकाल से विचार करते करते मध्याह्न हो गया। रानी ने कहलवाया भोजन ठंडा हो रहा है। शीघ्र पधारिये। तब राजा ने दूसरे दिन के लिए फैसला स्थगित कर दिया।

राजा महल में गये। उन्होंने उस अद्भुत मुकद्दमे का हाल रानी को सुनाया। रानी ने कहा—कल मैं न्याय करूंगी। मेरे उदर में महान् पुण्यशाली जीव है। अतएव आशा है कि मैं सही न्याय कर सकूंगी।

दूसरे दिन रानी के सामने दोनों स्त्रियाँ उपस्थित हुईं। रानी ने कहा—अच्छा, तुम्हारा मुक़द्दमा एक वर्ष के लिए स्थगित किया जाता है। तब तक यह बालक राज्य के कब्जे में रहेगा। यह सुनकर बालक की असली माँ को असीम दुःख हुआ। वह कहने लगी—मैं एक घड़ी के लिए भी बालक को नहीं छोड़ सकती। न्याय अभी होना चाहिए। दूसरी ने कहा—महारानीजी की जैसी इच्छा! एक वर्ष बाद ही सही!

असली माता फूट-फूट कर रोने लगी। यह हाल देख कर रानीजी ने समझ लिया कि असली माता कौन और नकली माता कौन है? बस फिर क्या था, महारानी ने अपना निर्णय दे दिया और सही निर्णय दे दिया।

कहने का आशय यह है कि महारानी के गर्भ में पुण्यवान् जीव था, इस कारण उनको सुमति उपजी। फलस्वरूप उनके बालक का नाम भी 'सुमतिनाथ' रक्खा गया।

माता के गर्भ में जब पुण्यवान् जीव नहीं होता है तो—

पापी जीव गर्भ में आवे, माता ने राखोड़ो लेवडा भावे।
साधु सतियों की निन्दा चावे, नित उठने क्लेश कमावे॥

पापी जीव के प्रभाव से उसकी माता को राख और कोयला खाने की इच्छा होती है, लड़ाई-झगड़ा और क्लेश-कलह करने की भावना उत्पन्न होती है उसे धर्म की बात सुहाती नहीं है। इसमें माता का दोष नहीं, गर्भ में स्थित बालक का ही दोष समझना चाहिए।

सेठानी धारिणी के गर्भ मे पुण्यवान् जीव आया था। उसके निमित्त से उसका हृदय निर्मल रहने लगा; बुद्धि पवित्र रहने लगी और धर्म के प्रति रुचि वढ़ी। सेठनी ने बड़ी यतना के साथ गर्भ का पालन किया। गर्भ की रक्षा के लिए उसने अपना आहार-विहार और खान-पान बहुत संयत कर लिया।

आखिर नौ महीने और कुछ दिन व्यतीत होने पर शुभ समय मे बालक का जन्म हुआ। स्वप्न में जामुन का वृक्ष देखने के कारण यथा समय बालक का नाम जम्बूकुमार रक्खा गया। जम्बूकुमार के जन्म के उपलक्ष्य में खूब खुशियाँ मनाई गई।

जम्बूकुमार की आकृति ऐसी सुन्दर थी और रूप इतना सलौना था कि जो उसे देखता, निहाल हो जाता। बालक सभी के मन को हरण कर लेता था। धीरे-धीरे वह बढने लगा और उसकी सार-सँभाल के लिए धायो की नियुक्ति कर दी गई। बालक जब सात वर्ष का हुआ तो कलाचार्य के पास भेज दिया गया।

प्राचीन काल में आजकल की तरह स्कूल नहीं होते थे। उस समय गुरुकुल की पद्धति प्रचलित थी। छह सात-सात वर्ष की उम्र में बालक गुरुकुल मे भेज दिया जाता था। वहाँ कलाचार्य उसे अपने बेटे की तरह रखते थे और कलाओं का तथा विविध शास्त्रों का अभ्यास कराते थे। बालक गृहस्थी के वातावरण से दूर रहकर एकाग्र भाव से, ब्रह्मचर्य का पूरी तरह पालन करता हुआ विद्याध्ययन करता था। जब वह कलाओं मे कुशल हो जाता था और उसकी उम्र पक जाती थी तो गुरुजी की अनुमति से गुरुकुलवास का परित्याग करके गृहस्थी में आता था। यह पद्धति बहुत उत्तम

थी। इस पद्धति से बालकों का सर्वाङ्गीण विकास होता था। इस लिए वे तन से और मन से स्वस्थ होते थे।

गुरुकुलों में सब बालक समान रूप से जीवन व्यतीत करते थे। चाहे कोई राजकुमार हो, चाहे रंक-पुत्र हो, उनके साथ एक-सा व्यवहार किया जाता था। इस कारण आगे चल कर राजा और रंक के बीच कोई खाई नहीं रहती थी और उनके पारस्परिक संबंध बहुत मधुर होते थे।

जम्बूकुमार कलाचार्य के पास रह कर शीघ्र ही बहत्तर कलाओं में प्रवीण हो गये। उनकी उम्र जब सोलह वर्ष की थी तो वह ऐसे दिखाई देते थे जैसे बाईस वर्ष के हों। जम्बूकुमार को विवाह के योग्य समझ कर उनके माता-पिता कहीं सगाई की बातचीत करने का विचार कर ही रहे थे कि एक साथ आठ सेठों की ओर से जम्बूकुमार की मंगनी हुई। सभी ने आग्रह किया कि आपके कुंवर का संबन्ध हमारी कन्या के साथ होना चाहिए। पहले-पहल ऋषभदत्त सेठ असमंजस में पड़ गये कि इनमें से किसकी कन्या के साथ सम्बन्ध किया जाय और किसे निराश किया जाय ! उन्होंने कइयों के सामने अपनी लाचारी प्रकट भी की। मगर आठों में से कोई भी अन्यत्र सम्बन्ध करने के लिए तैयार नहीं हुआ। तब ऋषभदत्त के सामने एक कठिन समस्या खड़ी हो गई।

आखिर आठों कन्याओं के साथ सगाई कर दी गई और विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। जिस समय की यह कथा है, उस समय भारतवर्ष की स्थिति बहुत उत्तम थी। देश में सर्वत्र शान्ति थी। धन-धान्य और दूध-दही की कमी नहीं थी। जीवन-

निर्वाह की सभी सामग्रियाँ सुलभ और सस्ती थीं। अतएव जम्बूकुमार का विवाह खूब धूमधाम के साथ करने का निश्चय किया गया। मंगल-गीत गाये जाने लगे। जम्बूकुमार अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र थे और उनके पास वैभव की कमी नहीं थी। ऐसी स्थिति मे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उनके हृदय मे कितना आनन्द उमड़ रहा होगा। कितना उल्लास हिलोरे मार रहा होगा! जम्बूकुमार के माता-पिता ने इस अव-सर को अपने जीवन का महान् प्रसंग माना। वे आनन्द मे मग्न थे और उत्साह से उछल रहे थे।

उधर चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। श्री सुधर्मा स्वामी प्रचार करते हुए राजगृह नगर मे पधारे। पाँच सौ शिष्य उनके साथ थे। राजगृह के नागरिक नर और नारी सुधर्मा स्वामी का धर्मोपदेश सुनने को उमड़ पड़े।

भाइयो! सुधर्मा स्वामी क्या उपदेश देते हैं और घटना-प्रवाह कैसा मोड़ लेता है, यह बात आगे क्रमश. बताई जाएगी।

—जोधपुर,
ता० १८-८-४८

रक्षाबन्धन
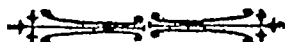
स्तुति

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात—
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं कि हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ! प्रभो ! देवों द्वारा की हुई मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात और सन्तानक आदि कल्पवृक्षों के फूलों की सुन्दर और दिव्य वर्षा सुगंधमय जलबिन्दुओं को लिए हुए, पवित्र और मन्द-मन्द वायु के साथ आकाश से गिरती है । वह ऐसी प्रतीत होती है, मानों आपके वचनों की श्रेणी हो ।

भगवान् जब समवसरण मे विराजमान होते हैं तो देवता अत्यन्त सुन्दर और श्वेत वर्ण के पुष्पों की रचना करते हैं । यहाँ भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति का प्रकरण है, अतः उनके सम्ब-

सरण में फूलों की वर्षा का वर्णन किया गया है। मगर यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य तीर्थंकरों के समवसरण मे पुष्पवर्षा नहीं होती। सभी तीर्थंकरों की महिमा समान होती है और देव-गण सब की समान भाव से भक्ति करते हैं। सभी के समवसरण की रचना एक-सी होती है। अतएव सभी तीर्थंकरों के समवसरण में देवों द्वारा कल्पवृक्षों के पुष्पों की वर्षा हुआ करती है। यहाँ आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति का प्रसंग होने के कारण उनके नाम का उल्लेख किया गया है।

फूल पाँच रंग के होते हैं—काले, नीले, पीले, लाल और सफेद। किन्तु भगवान् के समवसरण मे सफेद रंग के फूल ही बरसते हैं। यह सफेद रंग के फूल मानो श्रोताओं को यह संकेत करते हैं कि—'हे भव्य जीवो ! इन सफेद फूलों को देखो और अपने मन को ऐसा ही निर्मल धवल बनाओ।'

भाइयो ! संसार में नाना प्रकार के प्राणी हैं। उन सब के चित्त की अलग-अलग परिणतियाँ होती हैं। किसी का हृदय काला होता है, किसी का नीला, किसी का पीला और किसी का सफेद होता है। लेकिन इन सब में सफेद अर्थात् स्वच्छ-निर्मल हृदय ही सर्वोत्तम है और काला हृदय सब से अधम है। जब कोई किसी के प्रति अपना विरोध प्रदर्शित करना चाहता है और तिरस्कार का भाव व्यक्त करना चाहता है तो उसे काले झण्डे दिखलाता है। जिसका हृदय काला है, समझना चाहिए कि उसकी मानसिक परिणति अधम है और उस का हृदय स्वयं ही उसका तिरस्कार कर रहा है—वह अपने आपको आप ही काला झन्डा दिखला रहा है। दूसरे लोग चाहे उसके इस तिरस्कार को

न देख सकें किन्तु उसकी आत्मा तो उसे देखती ही है।

जिसका मन अत्यन्त मलिन है, जिसका दिल काला है, उस पर दूसरों के उपदेश का और संतों के समागम का प्रभाव नहीं पड़ता। उक्ति प्रसिद्ध है.—

सूरदास की काली कँवलिया,

चढ़े न दूजो रंग।

जैसे काले कपड़े पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता, उसी प्रकार काले हृदय पर अच्छी शिक्षाओं का असर नहीं पड़ता। शास्त्र में इस प्रकार की कलुषित मनोवृत्ति को कृष्ण लेश्या कहते हैं। लेश्याएँ छह मानी गई हैं.—

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य।

सुक्कलेस्सा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं॥

—श्री उत्तराध्ययन अ० ३०, गा० ३

अर्थात्—(१) कृष्णलेश्या (२) नीललेश्या (३) कापोतलेश्या (४) तेजोलेश्या (५) पद्मलेश्या और (६) शुक्ललेश्या; यह छह लेश्याएँ हैं। इनमें से पहले की तीन लेश्याएँ अधर्मलेश्याएँ या अप्रशस्त लेश्याएँ हैं और अन्त की तीन धर्म या प्रशस्त कहलाती हैं। इनमें उत्तरोत्तर क्रम से प्रशस्तपन आता जाता है। यानी कृष्णलेश्या सब से अधम है, उसकी अपेक्षा नीललेश्या और नीललेश्या की अपेक्षा कापोतलेश्या कुछ विशुद्ध है। शुक्ललेश्या सब से अधिक विशुद्ध है।

कषायों से प्रभावित योगों की प्रवृत्ति-लेश्या कहलाती है। जिसमें कृष्णलेश्या होती है, उसके विचार मलिन और पापमय होते हैं। ऐसा मनुष्य जिसके साथ थोड़ी-सी खटपट हो जाय उसे जहर देने की सोचता है। वह यही विचार किया करता है कि अमुक को कत्ल कर दूं और अमुक के प्राण लूट लूं। कृष्णलेश्या रौद्रध्यान को उत्पन्न करती है। यह इतनी खराब है कि इसके रहते यदि आयु का बंध हो तो नरक की आयु बंधती है और वह भी पहले या दूसरे नरक की नहीं, बल्कि छठे या सातवें नरक तक की आयु बंधती है। इस प्रकार काला हृदय या कृष्णलेश्या बड़ी भयानक है और आत्मा का अहित करने वाली है।

काले मन वाले की नीयत लेन-देन में दूसरे की धरोहर हड़प लेने की रहती है। वह यही विचारता है कि यह कब मरे और कब मैं इसकी धरोहर को हजम करूं! किसी सेठ की स्त्री बीमार हो तो सोचता है कि वह कब मर जाय ताकि अपनी लड़की की सगाई इसके साथ कर दूं। किसी के यहाँ लड़का है और वह मालदार है तो कृष्णलेश्या वाला सोचा करता है कि अच्छा हो, यह लड़का मर जाय और मैं अपने लड़के को इसकी गोद में बिठला दूं। वह यह नहीं सोचता कि मुझे ऐसा चिन्तन क्यों करना चाहिए! अगर लड़का तकदीर वाला है तो वह स्वयं करोड़पति बन जायगा। हमने स्वयं देखा है कि जिन्हें तीस रुपया मासिक की नौकरी भी नसीब नहीं होती थी वे ही आज लखपति बने बैठे हैं। और जो कई पीढ़ियों के लखपति थे या लखपति के यहाँ गोद गये थे, उनका दिवाला निकल गया और खाने-पीने से भी मुंहताज हो गये हैं! यह सब करणी का फल है। जिसने पुण्य

का उपार्जन किया है उसे सभी अनुकूल योग मिल जाते हैं। पुण्य के फलस्वरूप ही सुख-सामग्री की प्राप्ति होती है। पुण्यशाली जीव कहीं भी रहे और किसी भी अवस्था में रहे, सुखी रहते हैं। सब प्रकार की विघ्न-बाधाएँ उसके सामने हार मान लेती हैं और प्रतिकूल संयोग अनुकूल बन जाते हैं। प्राचीन काल की कथाओं को आप पढ़ेंगे या सुनेंगे तो स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार संकटमय स्थिति में से पुण्यात्मा जीव आनन्दमय स्थिति में आ जाता है! और आज-कल की अनेक घटनाएँ, जो सदैव घटती रहती हैं, पुण्य की प्रबल शक्ति का समर्थन करती हैं। रेलगाड़ी कहीं टकराती है या उलट जाती है। उसमे हजारो आदमी होते हैं। उनमें से कई-एक मौत के शिकार हो जाते हैं, कई बुरी तरह घायल होते हैं और कई बेदाग बच जाते हैं! इसका कारण क्या है?

उड़ते-उड़ते हवाई जहाज का ऐंजिन बेकार हो जाता है या बादलो के धुंधलेपन के कारण किसी पहाड़ की चोटी से टक्कर खा जाता है। उस पर सवार कई लोग तत्काल मर जाते हैं और कोई-कोई बच जाते हैं। इसका क्या कारण है?

दो आदमी कृषि या व्यापार करते हैं। एक-सी मिहनत करते हैं। मगर एक को लाभ होता है और दूसरे को हानि उठानी पड़ती है। एक लाखों कमाता है और दूसरा गँवाता है। यह भेद क्यों होता है?

इन प्रश्नो का उत्तर एक ही दिया जा सकता है और वह यही है कि पुण्य के या पाप के उदय से मनुष्य को विभिन्न स्थितियों का सामना करना पडता है। जिसके नेत्र है, जो सावधानी के सा

विचार कर सकता है, उसे पुण्य की महिमा पद-पद पर दिखलाई देगी। वह अपने पुण्य पर भरोसा करेगा और धनी बनने के लिए बेईमानी करने का विचार तक नहीं करेगा। विवेकवान् व्यक्ति को विदित है कि धन और ऐश्वर्य पुण्य के फल हैं। पुण्य के बिना यह प्राप्त नहीं होते। पुण्य के प्रभाव से ही इनकी प्राप्ति होती है और पुण्य से ही स्थिरता होती है।

भाइयो ! याद रक्खो कि नीयत बिगाड़ने से कोई लाभ नहीं होगा। यही नहीं, बल्कि उलटी हानि ही होगी। जब तक पुण्य का उदय है, तुम्हारे सुख को कोई छीन नहीं सकता। और जब पुण्य क्षीण हो जायगा तो तुम्हारा अक्षय धन-भंडार भी उसी प्रकार विलीन हो जायगा जैसे स्वप्न की सम्पत्ति सहसा विलीन हो जाती है। सुख और सम्पत्ति तो पुण्य रूपी वृक्ष के फल हैं। आप सुख-सम्पत्ति चाहते हैं तो पुण्य का उपार्जन करना होगा। सत्कार्य करके, दया, दान, परोपकार करके, दीन-दुखियो की सेवा और सहायता करके पुण्य का उपार्जन किया जा सकता है। इस प्रकार जब आप पुण्य रूपी वृक्ष का आरोपण करेंगे और वह बढ़ेगा तो अपने आप ही आपको उसके मधुर फल की प्राप्ति होगी।

मगर दुनिया के लोगों में कितना पागलपन है ! वे दूसरे का गला काट कर, झूठ बोल कर, चोरी और डकैती करके, दूसरे के परिश्रम के फल को हड़प कर और इस प्रकार पाप का आचरण करके पुण्य का फल-सुख प्राप्त करना चाहते हैं ! यह कितनी नादानी है ! जीवित रहने के लिए विष का पान करना जैसी मूर्खता है, उसी प्रकार सुखी बनने के लिए पाप का आचरण करना भी मूर्खता है। यह उलटा प्रयास है। जैसे आगे जाने के लिए पीछे कदम उठाने

वाला आदमी बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार धन, ऐश्वर्य, आदि सुख की सामग्री प्राप्त करने के लिए पाप का आचरण करने वाला व्यक्ति भी विवेकवान् नहीं कहा जा सकता। किन्तु जो कृष्णलेश्या वाला है, वह इस प्रकार का विचार नहीं करता।

कई लोग अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये अथवा दूसरे की बढ़ी हुई प्रतिष्ठा को ईर्षा के कारण सहन न कर सकने के कारण दूसरे को कलंक लगा देते है। दूसरे मे नाम मात्र को भी जो बुराई नहीं होती, वही उसके मत्थे मढ़ देते हैं। कोई भला आदमी अच्छे कर्त्तव्य करके बड़ाई पाता है और उसकी वह बडाई जिन्हें पसंद नहीं है, वे यही सोचा करते हैं कि कोई न कोई नुक्स निकाल देना चाहिये जिससे वह अपना मुँह ऊँचा न कर सके। उदाहरण के लिए-कोई दुराचारी पुरुष किसी पतिव्रता स्त्री के सतीत्व को नष्ट करना चाहता हो और वह काबू मे न आती हो तो वह सोचता है कि किसी तरह इसके चरित्र के सबंध में कोई अफवाह उड़ा दूं, जिससे इसकी बदनामी हो जायगी। कृष्ण लेश्या वाला जीव ऐसे-ऐसे पाप करके अपने भविष्य को अंधकारमय बना लेता है। कार्य करते समय तो कुछ मालूम नहीं होता, मगर फल उसका बहुत बुरा निकलता है!

धर्म, पंथ, मत या सम्प्रदाय जीवन को उन्नत बनाने के लिए होते हैं, उनसे आत्मा का कल्याण होना चाहिए किन्तु कई लोग इनको भी अपने पतन का कारण बना लेते हैं। धार्मिक असहिष्णुता के कारण एक धर्म का अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयायी को झूठा कलंक लगा देता है।

एक महात्मा थे। शहर में उनकी बहुत शोहरत फैल गई थी। यद्यपि उन महात्मा का किसी के साथ वैर-विरोध नहीं था, किसी

से कुछ लेन देन नहीं था, फिर भी कुछ लोगो को उनकी महत्ता और वढ़ती हुई प्रतिष्ठा सहन नही हो सकी। उन लोगों के हृदय मे अकारण ही ईर्षा-द्वेष की भावना उत्पन्न हुई और उन्होंने महात्मा को कोई न कोई इलजाम लगा देने का विचार किया। उन्होने सोचा इलजाम लगाने से इस महात्मा की प्रतिष्ठा पर धूल पड़ जायगी।

उन लोगों ने एक गर्भवती स्त्री को समझाया और उसे महात्मा का नाम ले देने के लिए तैयार कर लिया। स्त्री किसी तरह उनके चक्कर मे आ गई। उसने महात्मा का नाम ले लिया और उन लोगों ने महात्मा को वदनाम करना शुरु कर दिया। मगर वह महात्मा पक्के ब्रह्मचारी थे—लङ्गोट के सच्चे थे। कहावत है—'सांच को आंच कहां ?' इस कहावत के अनुसार सच्चा व्यक्ति सदैव निर्भीक रहता है और उसका कोई कुछ विगाड़ नहीं कर सकता। सत्यवादी के पास सत्य का इतना प्रवल वल होता है कि सारा संसार अगर उसके विरुद्ध हो जाय तो भी वह नहीं झुकता।

दक्षिण मे तुकाराम नामक संत हो गये हैं। वे एक वार भिक्षा लेने के लिए निकले। उन्हें एक स्त्री मिली। वह विधवा थी और किसी पुरुष से उसे गर्भ रह गया था। उसने संत से कहा—'मै उस पुरुष का नाम ले दूंगी तो वह जहर खाकर मर जायगा।' तुकारामजी ने कहा—'तू मेरा नाम ले देना!'

तुकारामजी ने सोचा मेरा क्या विगड़ने वाला है! सोने को कभी काठ नहीं लगता। लोग मेरा अपवाद करेंगे तो कर लेंगे। इससे मेरी आत्मा का पतन नहीं हो सकता। मेरे अपवाद सहन कर लेने से अगर एक पुरुष के प्राण वचते हैं तो अच्छा ही है।

वास्तव मे सन्तो की विचारधारा और ही प्रकार की होती है। वे जानते हैं कि जैसे प्रशंसा से आत्मा का उत्थान नहीं होता, उसी प्रकार निन्दा से आत्मा का पतन नही होता। आत्मा के उत्थान और पतन का कारण अपना विचार और आचार है। दूसरो के अच्छा कहने से ही कोई अच्छा नहीं बन सकता और बुरा कहने मात्र से कोई बुरा नहीं हो सकता। साधारण लोग अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं और निन्दा सुनकर दुःखी होते है। यह एक प्रकार की दुर्बलता है। समझदार मनुष्य वह है जो निन्दनीय विचारों को अपने पास नही फटकने देता और निन्दनीय कार्यों से दूर रहता है; मगर निन्दा और प्रशंसा से नहीं डरता और उनसे हर्ष एवं विषाद का अनुभव नहीं करता।

गहरा विचार कर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि निन्दा की अपेक्षा प्रशंसा मनुष्य के लिए अधिक हानिकर सिद्ध होती है। मनुष्य को जब प्रशंसा मिलती है तो वह उसमे फूल जाता है और अपनी त्रुटियों को, अपने दोषों को और अपनी बुराइयों को भूल जाता है। वह विचारने लगता है कि प्रशंसा तो हो ही रही है अब दोषों को दूर करने की आवश्यकता क्या है? इसके विरुद्ध निन्दा कभी-कभी लाभदायक सिद्ध होती है। निन्दा मनुष्य को आत्मनिरीक्षण की ओर प्रवृत्त करती है और आत्मनिरीक्षण से दोषों का परित्याग करने की ओर झुकाव होता है।

जिसने निन्दा और प्रशंसा को जीत लिया है, जो 'समो निंदापसंसासु' अर्थात् निन्दा और प्रशंसा में समभाव धारण करता है, जो निन्दा सुनकर विषाद का और प्रशंसा सुनकर हर्ष का अनुभव नहीं करता, वही सच्चा सन्त या महात्मा है।

हाँ तो उस औरत ने दूसरों के बहकावे में आकर महात्मा का नाम ले लिया। मगर ज्यों ही वह स्त्री घर पर गई, जोरों से उसका पेट दुखने लगा। आखिर झूठ और मिथ्यापवाद क्या निष्फल हो सकते हैं? वह औरत पेट के दर्द के कारण बेचैन हो गई। उसे महात्मा को कलंक लगाने का तत्काल फल मिल गया। कई पाप ऐसे होते है कि तत्काल उसका फल प्राप्त हो जाता है। आप किसी को गाली देते हैं और वह तुरन्त आपके गाल पर थप्पड़ जमा देता है। इसी प्रकार अदृश्य रूप से भी तत्काल फल मिल जाता है। औरत दर्द के कारण कराहने लगी!

उधर महात्मा को पता चला कि किसी स्त्री ने मुझे मिथ्या कलंक लगाया है। पहले तो वे आश्चर्य में पड़ गये और संसार के लोगों की विचित्र करतूतों पर विचार कर खेद का अनुभव करने लगे। फिर उन्होंने सोचा—मैं साधु हूँ। जनता मुझे धर्मात्मा समझती है। मैं अपने धर्म का प्रतिनिधित्व करता हूँ। किसी भी धर्म की अच्छाई या बुराई को साधारण लोग उस धर्म के सिद्धान्तों से नहीं जांचते, वरन् उस धर्म के अनुयायी लोगों के व्यवहार से जांचते हैं। हालाँ कि मेरी निन्दा होगी और उससे मेरी आत्मा को कोई हानि नहीं पहुँचेगी, फिर भी धर्म तो कलंकित होगा ही! लोग कहेंगे कि देखो, इस धर्म के साधु कितने पाखण्डी और दुराचारी होते हैं! इससे सभी संतों का अपवाद होगा। मैं अपनी निन्दा की परवाह न करूँ, फिर भी धर्म की और दूसरे साधुओं की निन्दा का खयाल करना आवश्यक है।

आखिर मुनि ने अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक मेरा अपवाद दूर न हो जायगा, मैं अन्न और जल ग्रहण नहीं करूंगा।

उधर वह औरत उदर-वेदना के कारण चिल्लाने लगी। उसकी वेदना उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली गई। आखिर जब उसने सोचा कि अब प्राण बचाने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है तो सच्ची-सच्ची बात प्रकट कर दी। उसने कहा—महात्मा बिलकुल निर्दोष हैं। मैंने दूसरो के कहने से उनका नाम लिया है। महात्मा को कलंकित करने के कारण ही मुझे यह वेदना भोगनी पड़ रही है!

घर वाले उसे महात्मा के पास ले गये। उसने सच्चा-सच्चा हाल कह कर पश्चात्ताप किया और महात्मा से क्षमायाचना की। दूसरे लोगों ने महात्मा से अन्न-जल ग्रहण करने की प्रार्थना की। महात्मा बोले—मैं अपनी निन्दा सहन कर सकता हूँ, परन्तु धर्म की और साधुसंत की निन्दा मुझे असह्य है। मैं प्राण-त्याग करना स्वीकार कर सकता हूँ, मगर यह नहीं सहन कर सकता कि मेरे कारण धर्म बदनाम हो और समस्त संतों की भी बदनामी हो! इसी कारण मैंने अन्न-जल त्याग दिया था। धर्म और संघ का कलंक अब दूर हो गया है तो मुझे भोजन-पानी ग्रहण करने में कोई ऐतराज नहीं है। यह कह कर महात्मा ने अन्न-जल लेना स्वीकार किया। औरत अपने घर लौट गई। उसके पेट का दर्द मिट गया। उसने पुत्र का प्रसव किया। कितने ही वर्ष के बाद वही महात्मा घूमते-घामते फिर उसी नगर में आये। उस स्त्री ने महात्मा का सत्संग किया और धर्मोपदेश सुना। उसे संसार से विरक्ति हुई और वह दीक्षा लेकर तपस्या करने लगी।

तप की बड़ी महिमा है। जैसे सोने मे लगा हुआ मैल आग मे सोने को तपाने से दूर हो जाता है, उसी प्रकार अनादि काल से आत्मा के ऊपर जो मलिनता चढ़ी हुई है, वह तपस्या की आग से नष्ट हो जाती है। तपस्या आत्म-शुद्धि का प्रधान कारण है। इसीलिए भगवान् ने तपस्या को धर्म का मुख्य लक्षण बतलाया है। श्री दशवैकालिकसूत्र के प्रारभ मे ही कहा है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो

अर्थात्-अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म सर्वोत्कृष्ट मंगलकारी है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि यहाँ धर्म के तीन रूप बतलाये हैं मगर उन तीनो मे आपस मे कार्यकारण भाव है। अहिंसा का पालन संयम से होता है। जिसका मन, वचन और काम संयमयुक्त नहीं होगा वह अहिंसा का पालन नहीं कर सकेगा। मनुष्य का जीवन जितने-जितने अंशो में संयत होता चलता है, उतने ही उतने अंशों में उसके जीवन मे अहिंसा का विकास होता जाता है। इसी प्रकार अहिंसा के लिए सयम की अनिवार्य आवश्यकता है। जो अपने मन पर काबू नहीं रखता, किसी भी प्रकार की दुर्भावनाओं को मन मे उत्पन्न होने देता है और जिसका मन दुर्भावनाओं से दूषित बना रहता है, वह मानसिक असंयम वाला जीव अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। इसी प्रकार जो अपने वचन पर नियंत्रण नहीं रखता, जरासा आवेश आते ही अंटसंट बकने लगता है, जिसे बोलने का भान नहीं है वह भी अहिंसा का पालन करने मे समर्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो अपनी काया को काबू में नहीं रख सकता, जो बेभान और विवेकविकल होकर कार्य करता है वह भी अहिंसा की साधना

नहीं कर सकता । तात्पर्य यह है कि मन, वचन और काय को संयम मे रखने वाला पुरुष ही अहिंसा की पूरी तरह साधना कर सकता है। इस प्रकार अहिंसा का साधन संयम है।

जैसे अहिंसा की साधना संयम से होती है, उसी प्रकार संयम की साधना तपस्या से होती है। स्वेच्छापूर्वक कष्ट को सहन करना तपस्या है। कष्टों और कठिनाइयों को सहन किये बिना संयम का साधन सभव नहीं है। इस तरह तपस्या से संयम और संयम से अहिंसा की साधना होती है। इसीलिए तो भगवान् ने फरमाया है —

आयावयाही चय सोगमल्लं ।

अरे मुमुक्षु ! आतापना ले अर्थात् कठिनाइयों को सहन कर। सुकुमारता त्याग दे।

जो सुकुमार होगा वह तपस्या करने से डरेगा और तपस्या किये बिना आत्मा का कल्याण होना असंभव है।

अन्यान्य तीर्थंकरो की बात जाने दीजिये। चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर के जीवनचरित को ही ले लीजिए। भगवान् जन्म से ही अवधि ज्ञानी थे। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्हे मन-पर्याय ज्ञान प्राप्त हो गया। वे जानते थे और दुनिया को जाहिर हो गया था कि वे तीर्थंकर हैं और उन्हे मोक्ष अवश्य प्राप्त होगा फिर भी भगवान् ने आनन्दमय जीवन व्यतीत नहीं किया। वे लगभग बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण करते रहे। भगवान के इस व्यवहार से हमे यही सीखना चाहिए कि आत्म-कल्याण के लिए तप अनिवार्य है।

भाइयो ! तपस्या भी दो प्रकार की होती है-सकाम भावना से की जाने वाली तपस्या और निष्काम भाव से की जाने वाली तपस्या। कई लोग दुनिया मे अपनी महिमा बढ़ाने के लिए तपस्या करते हैं। कई मरने के बाद स्वर्ग में उत्पन्न होकर दिव्य भोगोपभोगो को भोगने की कामना से प्रेरित होकर तप करते हैं। कई लोग मनुष्य होकर राजा-महाराजा, सम्राट् अथवा चक्रवर्ती बनने की इच्छा रखकर या अन्य कोई ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ प्राप्त करने के मनोरथ से प्रेरित होकर तप करते हैं। यह सब सकाम तपस्या है। कामना के कारण तपस्या दूषित हो जाती है। ऐसी तपस्या का पूरा फल नहीं मिलता।

दूसरी निष्काम-तपस्या है। निष्काम-तपस्या संसार के भोग, ऐश्वर्य या पुत्र-पौत्र आदि की प्राप्ति के लिये नहीं होती। उसका एक मात्र लक्ष्य होता है-आत्मशुद्धि! कई लोग कहेंगे कि-महाराज! आपकी तपस्या बड़ी जबर्दस्त है। आप तो विलायत के लाट या गवर्नर बनेंगे !! लेकिन भाई, संतो की तपस्या लाट या गवर्नर बनने के लिए नहीं होती। सन्त-जन इन पदवियो को पसंद नहीं करते। सच्चे सन्त जन्म-मरण के चक्कर से छूटने के लिए ही, अपनी आत्मा के परम कल्याण के लिए तपस्या करते हैं। भगवान् ने श्री-दशवैकालिकसूत्र में फरमाया है—

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ; तंजहा—

(१) नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा

(२) नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा

(३) *नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा*

(४) *नन्नत्थ निज्जरट्ठाए तवमहिट्ठिज्जा ।*

अर्थात—तप-समाधि चार प्रकार की है-(१) इस लोक संबंधी लब्धि या कामभोग के लिए तप न करे (२) ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती आदि के समान परलोग मे भोगोपभोग प्राप्त करने के लिए तप न करे (३) कीर्त्ति (सर्व-दिशाव्यापी यश), वर्ण (एक दिशाव्यापी यश), शब्द (अर्ध दिशाव्यापी यश) और श्लोक अर्थात् स्थानीय प्रशसा के वास्ते तपस्या न करे। (४) निर्जरा के सिवाय और किसी भी सांसारिक प्रयोजन से तपस्या न करे।

इस प्रकार निष्काम, निरीह भाव से तपस्या करने वाला पुराने से पुराने पापो को धो डालता है।

उस महिला ने महात्मा से दीक्षा अंगीकार करके ऐसी ही उत्तम तपस्या की। उसकी उत्कृष्ट तपस्या के कारण लोग उसका आदर-सन्मान और श्रद्धा-भक्ति करने लगे। सभी जगह उस तपस्विनी की महिमा फैल गई। वास्तव में गुणो के कारण ही किसी को आदर और सन्मान की प्राप्ति होती है।

एक बडा आदमी हलवाई की दुकान पर गया। उसने गुलाब-जामुन खरीदे। हलवाई ने दोने मे गुलाबजामुन दे दिये। सेठ ने रेशमी रूमाल से गुलाबजामुन ढँक लिये। तब दोना मिजाज में आकर सोचता है—हम भी रेशमी रूमाल से ढँके हैं !

सेठ अपनी हवेली में जाता है और चौथे मंजिल पर जा पहुँचता है। वहाँ कुर्सी और टेबिल सजे हुए थे। सेठ दोने को बढिया-सी तश्तरी में रख देता है। तब दोना अभिमान करता है-ओह !

हम कितने ऊँचे चढ़ गये है ! और मुझे कितना सुन्दर आसन बैठने के लिए मिला है ! मगर बेचारे दोने को क्या पता है कि यह इज्जत गुलाबजामुन की बदौलत है। जब गुलाबजामुन तश्तरी में ले लिये गये तो दोने को वहीं पास की खिड़की मे से नीचे गिरा दिया गया और अब उसे कुत्ते चाटते हैं !

ऐ मनुष्य ! संसार में शरीर की पूछ नहीं है अगर तेरे शरीर रूपी दोने में सद्‌गुण रूपी गुलाबजामुन भरे होंगे तो तेरी पूछ होगी, तेरी प्रतिष्ठा होगी, तू ऊँचा चढ़ेगा और उत्तम आसन प्राप्त करेगा। यह सब न होगा, तेरे अन्दर सद्‌गुणो का वास न होगा तो तेरी पूछ कहीं नहीं होने की ! तू पुण्य लेकर आया है। पुण्य के प्रभाव से तुझे मनुष्य योनि मिली है, सुन्दर शरीर मिला है, सोचने-समझने की शक्ति मिली है, धर्म-श्रवण करने का सुयोग मिला है। मगर याद रखना, अगर तेरा पुण्य समाप्त हो गया और तू ने नवीन पुण्य का उपार्जन नहीं किया—दोना खाली करके चला तो ऐसी दुर्दशा होगी कि कहीं पता भी नहीं चलेगा।

भाइयो ! वह महिला आर्यिका बन कर सच्ची तपस्या करने लगी। तपस्या के फलस्वरूप उसका शरीर छूटा तो वह स्वर्ग मे गई। चिर काल पर्यन्त स्वर्ग के सुखों को भोगकर वहाँ से चल कर वह राजा जनक के यहाँ कन्या रूप मे उत्पन्न हुई। वहाँ उसका नाम सीता रक्खा गया। राम के साथ उसका विवाह हुआ। मगर उसने मुनि को झूठा कलङ्क लगाया था, इसी कारण रावण हर ले गया और उसे भी झूठा कलंक लग गया। लोग कहने लगे—'क्या रावण सीता को झक मारने ले गया था ?' संभव है कोई बाग में जाय और फूल तोड़ ले किन्तु सूंघे नहीं; फिर भी

शक तो होता ही है ! रावण और सीता अकेले थे, अतः न मालूम क्या हुआ होगा ?

भाइयो ! कहने वाले भी जबर्दस्त होते हैं। आखिर सीता को अग्नि मे प्रवेश करके अपनी निर्दोषता सिद्ध करनी पड़ी। इस दुःख का कारण यही था कि पूर्व जन्म का जरा-सा दाग रह गया था उसका फल सीता को भोगना पड़ा।

भाइयो ! यहाँ सुख है और दुख है। धूप है और छाया है। समझे ? जैसा किया है वैसा भोग रहे हो और जैसा कर रहे हो और करोगे वैसा भोगना पडेगा। इसलिए हृदय मे कालापन-कृष्ण लेश्या-नहीं रखना चाहिये। हृदय को साफ और स्वच्छ रखने मे ही कल्याण है। सदा सावधान रहो कि एक क्षण के लिए भी तुम्हारी भावना मलिन न हो पाये !

गहराई से सोचोगे तो जरूर मालूम हो जायगा कि मनुष्य के जीवन में भावनाओ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मूल मे मनुष्य-मनुष्य सभी सरीखे होते हैं; फिर भी एक बुरा और दूसरा भला क्यो कहलाता है ? एक उत्तम और दूसरा अधम क्यो बन जाता है ? इसका उत्तर यही है कि भावनाओं के भेद से मनुष्य में यह भे होता है। भावना मनुष्य के जीवन का निर्माण करने का साचा है व्यक्ति का व्यक्तित्व भावनाओं के यंत्र में ढल कर ही निर्मित होत है। मनुष्य के हृदय मे सर्वप्रथम अच्छे या बुरे विचार उत्पन्न हो हैं उन विचारो से प्रेरित होकर वह अच्छे या बुरे काम करता और फिर अपने जीवन को अच्छा या बुरा बना लेता है।

भावना का बल बड़ा ही प्रबल होता है। भावना के प्रभ से मनुष्य भीतर ही भीतर एक विराट जगत् का निर्माण कर ले

है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा तो आपने सुनी है? वह मुनि थे और आत्मध्यान मे लीन हो रहे थे। राजा श्रेणिक के सैनिको के मुख से उन्होने सुना कि उनका लड़का संकट मे है। मंत्री वगैरह उसका राज्य छीन लेने की फिराक मे हैं। यह सुनते ही उनकी भावना बदली। बदलती-बदलती ऐसी अधम स्थिति पर जा पहुंची कि भगवान् ने बतलाया कि वे अगर इस समय काल करें तो सातवे नरक के अतिथि बनें। मगर थोड़ी ही देर तक वह भावना रही। उन्होंने अपने मस्तक पर हाथ फेरा तो एकदम ख्याल आ गया कि-ओह! मैं यह क्या कर रहा हूँ? मैं साधु होकर मन ही मन संग्राम करने में जुट गया हूँ! बस, भावना ने पलटा खाया और वह ऊँची चढ़ी, इतनी पवित्र बनी कि उसी समय केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई! यह है भावना का अद्भुत चमत्कार! कहाँ सातवाँ नरक और कहाँ मोक्ष! दोनो दो विरोधी सिरो पर स्थित हैं। एक अधम से अधम स्थिति है और दूसरी उत्तम से उत्तम स्थिति है! मगर भावना की गति इतनी तेज है कि कुछ ही क्षणो मे उसने लम्बा रास्ता तय कर लिया!

भाइयो, आप सामायिक करते हैं तो अच्छी बात है, उपवास आदि तपस्या भी करते हैं तो और भी अच्छी बात है; मगर यदि आपकी भावना पवित्र रहती है तो सबसे अच्छी बात है। भावना की शुद्धि के बिना कोई भी क्रिया पूरा फल नहीं दे सकती। आचार्य महाराज फरमाते हैं:—

यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

अर्थात् कोई कितनी ही उग्र क्रिया क्यों न करे, अगर उनके

साथ भावना नहीं है; विना मन के, बोझ समझ कर की जा रही हैं तो वह सफल नहीं होती।

विचारों के प्रभाव से मनुष्य का सारा जीवन प्रभावित होता है। विचार में आ जाता है कि यह भूतनी है तो उसे हवा मे भी भूतनी ही नजर आती है। इसीलिए हमारे यहाँ उक्ति प्रचलित है—

यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः।

अर्थात्—जैसी दृष्टि वन जाती है वैसी ही दुनिया नजर आने लगती है।

एक आदमी ने पौषध किया। उसने अपनी लम्बी अंगरखी और पगडी खूंटी पर टांग दी। वह रात को जागा तो अपनी ही अंगरखी को देखकर कहने लगा—अरे भूतनी! भूतनी! और अपनी पगडी को भूतनी का सिर समझने लगा। इस प्रकार के वहम वड़े खतरनाक होते हैं। वहमी आदमी शून्य मे से वस्तुओं का निर्माण कर लेता है और फिर उनसे भयभीत होता है और कभी-कभी तो मौत का भी शिकार वन जाता है!

यों तो वचन और काय से भी पाप होता है, मगर मन इनका सरदार है। मन अकेला ही पाप और पुण्य का उपार्जन कर लेता है और वही वचन और काया को पाप की ओर प्रेरित करता है। इसी कारण मनुस्मृति में कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—मन ही बंध और मोक्ष का प्रधान कारण है।

एक बार भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर मे पधारे। उनके साथ बहुत से साधु थे। उनमें से एक साधु ठंड मे ध्यान करके खड़े थे। रानी चेलना ने उन्हे देखा और कहा—धन्य हैं। वह मुनि की कठोर तपस्या को देखकर बड़ी प्रसन्न हुई। वह अपने महल में आई और रात्रि में सो गई। कड़ाके की सर्दी पड रही थी। उसका एक हाथ रजाई से बाहर रह गया तो ठंड से ठिठुर गया उसने हाथ अन्दर ले लिया। उसी समय उसे उन मुनि का स्मरण हो आया और उसके मुंह से निकल गया—'धन्य हैं मुनिराज !'

रानी चेलना के मुख से निकले हुए यह शब्द उसके पति राजा श्रेणिक ने सुने। उसे वहम हो गया। उसने सोचा—यह बुरे लक्षणों की स्त्री है। श्रेणिक को बड़ा क्रोध आया। पहले कहा जा चुका है कि क्रोध एक प्रकार का पागलपन है। क्रोधी आदमी विवेक से काम नहीं ले सकता। दिन निकलते ही राजा श्रेणिक ने अभयकुमार को आज्ञा दी कि रानी का महल जला दो और देर मत करो। मैं महावीर स्वामी के दर्शन करने जाता हूं।

इस प्रकार आदेश देकर राजा श्रेणिक भगवान् की पर्युपासना करने चल दिया। इधर अभयकुमार ने विचार किया—महारानी चेलना अत्यन्त शीलवती और धर्मनिष्ठ है। दुनिया लौट जाय मगर महारानीजी अपना धर्म नहीं छोड़ सकती ! फिर भी महाराज ने न जाने क्यों ऐसा आदेश दिया है !

अभयकुमार ने राजा का आदेश मानकर महल के आस-पास घास के बड़े-बड़े ढेर लगवाये और उनमें आग लगवा दी।

इधर राजा श्रेणिक भगवान् की सेवा में पहुँचे। यथाविधि

वन्दना-नमस्कार करके उन्होंने सर्वप्रथम रानी चेलना के सम्बन्ध में ही प्रश्न किया, मगर जरा टेढ़े ढंग से। राजा ने कहा—प्रभो! राजा चेटक की सातों लड़कियाँ कैसे शील स्वभाव की हैं? भगवान् ने उत्तर दिया—सातों पुण्यशालिनी, तपस्विनी और सुशीला हैं। सब निर्दोष और नीतिनिष्ठ हैं।

भगवान् का उत्तर सुनकर राजा श्रेणिक एकदम सोच-विचार में पड़ गया। उसे भगवान् की वाणी पर पूर्ण विश्वास था। वह सोचने लगा-जब केवली भगवान् सातों को निर्दोष और सुशील बतला रहे हैं तो मेरी पत्नी चेलना भी निर्दोष है और सुशील है, क्योंकि वह भी राजा चेटक की पुत्री है। यह सोचकर श्रेणिक तत्काल महल की ओर चल दिया। पास में पहुंच कर उसने धुआँ निकलते देखा। समझा चेलना के महल में आग लगा दी गई है। उसने अभयकुमार से कहा-अरे! यह क्या गजब कर डाला? जा रे अभय!'

अभयकुमार ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वह उसी समय भगवान् की सेवा में जा पहुँचा और दीक्षित हो गया। राजा ने देखा, महल सुरक्षित है और रानी सकुशल है। यह देखकर राजा को सन्तोष और हर्ष हुआ। थोड़ी देर बाद राजा ने नौकरों से पूछा—कुमार कहाँ हैं? तब उन्हें बतलाया गया कि कुमार भगवान् के पास गये हैं। राजा फौरन प्रभु के पास जाते हैं और अभयकुमार को साधु के वेष में देखकर कहते हैं—बेटा, तुमने यह क्या किया?

मुनि अभयकुमार शान्त स्वर में बोले—बहुत दिनों से मैं संसार त्यागने की इच्छा कर रहा था। संसार के प्रति मेरे अंत:-

करण मे तनिक भी आकर्षण नहीं रहा था। संसार मुझे असार प्रतीत होता था। मैंने गृहवास त्याग कर साधु बनने की आज्ञा चाही, मगर आपने आज्ञा नहीं दी। आपने कहा—जब मेरे मुंह से 'जा रे अभय' निकले तभी दीक्षा लेना। आज आपके मुख से यह शब्द निकल गये। यह मेरा महान् सौभाग्य है। मैंने इन शब्दों को आज्ञा मानकर दीक्षा ग्रहण कर ली है।

भाइयो! इस कथा से आप समझ सकते है कि वहम कितनी बुरी चीज है। यह करीब अढ़ाई हजार वर्ष पहले की कथा है। उस समय भगवान् स्वयं विराजमान थे, इस कारण घोर अनर्थ होते-होते बच गया। मगर आजकल वहम के कारण अनेको परिवार ऊजड़ हो रहे हैं, आपसी तकरारें बढ़ती चली जाती है और कभी-कभी लोग एक दूसरे के खून के प्यासे बन जाते हैं और गला काट लेते हैं। पति पत्नी को जहर दे देता है, भाई भाई का वैरी बन जाता है। अतएव निराधार वहम को मन मे स्थान देना उचित नहीं है। इसे शक कहो, शंका कहो या अविश्वास कहो, यह बड़ा अनर्थकारी होता है।

किसी जगह एक सन्त विराजमान थे। यद्यपि वे भीड़भाड़ से बचने का प्रयत्न करते थे, उन्हें एकान्त प्रिय था और शान्ति के साथ धर्मध्यान किया करते थे, तथापि कभी-कभी श्रद्धालुजन उनकी संगति के लिए आ ही जाते थे। और जब आ जाते थे तो वे उन्हे मनाई नहीं कर सकते थे। एक बार कई महिलाएँ उनके पास आईं और उन्हें घेर कर बैठ गई। इतने में एक पुरुष आया। वह प्रणाम करके बैठ गया और बोला—महाराज ! जैसे कृष्ण गोपियों के बीच शोभायमान होते थे वैसे ही आप भी सुशोभित

हो रहे हैं ! भला, ऐसे वातावरण में साधु का मन किस प्रकार ठीक रह सकता है ?

सन्त ने कहा—तुम्हारा कहना एक प्रकार से ठीक ही है। साधुओं को ऐसे वातावरण से बचना चाहिए। फिर भी कभी-कभी बहिनें आ जाती हैं और उन्हें धर्मोपदेश न करना कैसे उचित हो सकता है ? देखो भाई, आज राखी का दिन है। आज तुम्हारी बहिन सज-धज कर तुम्हें राखी बांधने आएगी। उसे देख कर तुम्हारे चित्त में कैसी भावना उत्पन्न होगी ?

वह पुरुष बोला—बहिन के प्रति जैसी निर्मल भावना होती है वैसी ही होगी तब सन्त बोले—तो बस, यही भावना इन बहिनों के प्रति मेरी है। हम इन्हें माता और बहिन मानते हैं। हमारे लिए जगत् की स्त्रियाँ माता और बहिन हैं।

आज रक्षाबन्धन का त्यौहार है। भारतवर्ष के मुख्य-मुख्य त्यौहारों में इस त्यौहार की गणना है और अत्यन्त प्राचीन काल से यह त्यौहार चला आ रहा है। आज के दिन पुरुषों और स्त्रियों में एक नवीन उत्साह की लहर उत्पन्न हो जाती है। क्या बालक और क्या वृद्ध, सभी आनन्द में विभोर हो जाते हैं। सर्वत्र धूमधाम और अनोखा वायुमण्डल बन जाता है। रक्षाबन्धन का त्यौहार भावनामय त्यौहार है। आज बहिन, भाई के हाथ में रक्षा का पवित्र सूत्र बांधती है और ब्राह्मण अन्य लोगों के हाथ में रक्षासूत्र बांधते हैं। जब बहिन, भाई के हाथ में रक्षाबन्धन बांधती है तो उसकी क्या भावना होती है ? जरा सुनिये.—

रक्षा आई रे सब रक्षा करो संदेशा लाई रे ॥ध्रुव॥

बहिन भाई के रक्षा बांधे, लीजे मन निभाई रे ।
सासरिया में गाज सकूँ पीहर में भाई ` ॥

भाइयो ! कितनी भावनामय बात है ! बहिन कहती है—वीरा ! हम दोनो एक डाली के दो फल हैं । तेरी और मेरी आत्मा एक सूत्र से बन्धी हुई है-प्रकृति ने हमे एक सूत्र मे बांध रक्खा है । भैया ! मुझे अन्त तक निभाना । मैं सासरे में पीहर के पीछे गाजती हूँ । मुझे तेरा बल और भरोसा है मेरे अन्दर भाई की शक्ति ही काम करती है । मेरी रक्षा करना !

व्यापारी अपनी कलम को राखी बांधता है इसका आशय क्या है ? जरा ध्यान से सुनो और सोचो.—

रक्षा बांधे वणिक कलम के और दवात के ताई रे ।
प्रतिज्ञा है नीति-धर्म से करूँ कमाई रे ॥

व्यापारी कलम और दावात के राखी बांधकर प्रतिवर्ष अपनी इस प्रतिज्ञा को ताजा कर लेता है कि मैं नीति और धर्म के अनुसार ही कमाई करूंगा । धन के लिए धर्म का परित्याग नहीं करूंगा । लोभ-लालच में पड़कर नीति का परित्याग नहीं करूंगा ।

भाइयो, लोग कलम को कान में लगाते हैं । तब मानो कलम व्यापारी के कान में कहती है-देखो सेठ, न्याय-नीति के अनुकूल बात लिखना, नहीं तो जैसे मेरा मुंह काला हुआ है वैसे ही तुम्हारा मुख भी काला हो जायगा । सावधान रहना, कोई यह न कहे कि फलाँ चन्दजी ने मेरे गले पर छुरी चला दी । इसलिए अपने बही-खाते आदि कागजात में सत्य-सत्य लिखना ।

भाइयो, आज क्या स्थिति है और व्यापारी लोग किस प्रकार अनीति का सेवन करते हैं, इस संबंध मे मैं कुछ कहना नहीं चाहता। मैं जितना कह सकता हूँ, आप उससे भी ज्यादा जानते हैं। मैं तो इतना ही कहना चाहता हूँ कि सच्चा श्रावक कभी अन्याय से धन कमाने की इच्छा नहीं करता। श्रावक बनने की पहली शर्त 'न्यायोपात्तधनः' है। न्याय-नीति से धन कमाना ही श्रावक उचित समझता है। अन्याय का धन अधिक समय तक नहीं ठहरता कहा भी है:—

अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षं हि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं हि विनश्यति॥

अर्थात्–अनीति का धन दश वर्ष तक ठहरता है–इससे आगे नहीं ठहरता। ग्यारहवाँ वर्ष लगने पर वह चला जाता है और अकेला ही नहीं जाता वरन् साथ मे पहले की पूंजी को भी लेता जाता है।

प्रतिवर्ष राखी व्यापारी को याद दिलाती रहती है कि अगर तुम अपने यश को उज्ज्वल रखना चाहते हो, अपना भविष्य सुन्दर बनाना चाहते हो और प्रतिष्ठा कायम रखना चाहते हो तो अनीति से पैसा इकट्ठा मत करना।

क्षत्रिय लोग अपनी तलवार मे राखी बाँधते हैं। उसका प्रयोजन क्या है? सुनिये —

क्षत्रिय खड्ग के राखी बाँधे, प्रजा रक्षा ताई रे।
दीन गरीब को कोई भी नहीं सके सताई रे॥

क्षत्रिय की तलवार में बाँधी जाने वाली राखी उसे यह संदेश देती है कि प्रजा की रक्षा करना तेरा कर्त्तव्य है। प्रजा तेरे आश्रित है। लुच्चों और गुंडों से पीड़ित न होने देने की तेरे ऊपर जिम्मेदारी है। राखी मानो उससे कहती है—वीर, दीनों और दुर्बलों की रक्षा करना। सबल और शक्तिशाली उन्हें सताने न पावें, उनका शोषण न करने पावें। तू स्वयं भी किसी पर अत्याचार न करना। गोचर भूमि को मत हड़पना। प्रजा की रक्षा में ही अपनी रक्षा समझना। राजा की नीयत अच्छी होगी तो प्रजा भी नेक नीयत होगी।

एक बार बादशाह अकबर घोड़े पर सवार होकर सैर करने निकले। दूर जाने पर प्यास लगी। कुए पर आये। वहाँ एक बुढ़िया बैठी थी। बादशाह ने बुढ़िया से पानी माँगा तो बुढ़िया बोली—ठहर जा बेटा, अभी लाती हूँ। यह कहकर बुढ़िया पानी लेने चली गई। उसने गन्ने के खेत में जाकर गन्ने में एक चाकू मारा कि रस से गिलास भर गया। गिलास लाकर उसने मुसाफिर को दिया। उसने पिया। जाते समय एक गिलास फिर लाने को कहा। बुढ़िया फिर रस लेने चल दी।

भाइयो! भारत में पहले के लोगों में बड़ी उदारता थी। अतिथि-अभ्यागत का सत्कार करने में लोग अपना अहोभाग्य समझते थे। सभी लोग अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार अभ्यागतों का स्वागत किया करते थे। कौन कह सकता है कि उनकी इस उदार भावना का यह परिणाम नहीं था कि उस समय भारत की प्रजा धन-धान्य से परिपूर्ण थी और जीवन की समस्याओं ने उग्र रूप धारण नहीं किया था। आज वह उदारता

कहाँ है? अतिथिसत्कार की भावना कहाँ है? आज तो लोग घर आये से भी आँख बचाना चाहते हैं!

बुढ़िया बिना सोचे-विचार किये ही गन्ने का रस लाने को चल दी। एक राहगीर की सेवा करने का अवसर पाकर वह बड़ी सन्तुष्ट और खुश थी।

इधर बादशाह मन ही मन सोचने लगा—गन्ने के खेतों पर तो अधिक महसूल होना चाहिए। उधर बुढ़िया ने गन्ने में चाकू मारा तो रस बहुत कम निकला। एक गिलास रस के लिए उसे कई गन्ने काटने पड़े। आखिर वह गिलास भर कर ले आई। बादशाह ने कहा—इस बार देर बहुत लगाई माँ जी!

बुढ़िया—मालूम होता है बादशाह की नीयत बिगड़ गई है! इसी कारण कई चाकू मारने पर यह रस प्राप्त हो सका।

बादशाह चकित रह गया। उसने सोचा—सचमुच ही मेरी नीयत बिगड़ी थी और उसका गन्नों पर तत्काल प्रभाव पड़ गया!

इसी तरह घर के मुखिया की नीयत अच्छी हो तो सब घर वालों की भी अच्छी रहती है। और जब मुखिया की नीयत खराब होती है तो सब की नीयत खराब समझो!

कहने का आशय यह है कि राजा का कर्त्तव्य है कि वह अच्छी नीयत रखकर प्रजा की रक्षा करे।

ब्राह्मण सेठ क्षत्रिय के बाँधे देखो रक्षा जाई रे।
धर्म और धार्मिक की रक्षा करो सदाई रे॥

ब्राह्मण, सेठों और क्षत्रिय को राखी बाँधता है। वह यही आशीर्वाद देता है कि सदा फूलो-फलो और धर्म तथा धर्मात्माओं की रक्षा करो। धर्म की रक्षा करना भी राजा और साहूकारों का कर्त्तव्य है साथ ही धर्मी की भी रक्षा करनी चाहिए क्यों कि धर्मी की रक्षा के बिना धर्म की रक्षा नहीं हो सकती। धर्मी की रक्षा करने से धर्म की भी रक्षा हो जाती है; क्योंकि धर्मी धर्म का आधार है। मगर होता क्या है ? किसी धर्मात्मा को सौ रुपये कि आवश्यकता पड़ जाय तो उधार देना कठिन हो जाता है और कसाइयों को ब्याज के लोभ मे आकर दो सौ देने में भी सकोच नहीं होता। कहा है:—

धर्मी ने नहीं देवे सहायता, पापी ने वढ़ावेगा।
बैठ पत्थर की नाव में, वह डूबी जावेगा।
सुमति जब आवेगा,
सत्संग में थारो जीव रमायेगा ॥

जो लोग धर्मात्मा को सहायता नहीं देते और पापियों के सामने अपनी थैलियों के मंह खोल देते हैं वे क्या कर रहे हैं ? याद रक्खो, वे पत्थर की नाव पर बैठे है और उनके डूबने मे देर नहीं लगेगी। उनका कहीं पता भी नहीं चलेगा।

भाइयो, कोरा तागा बाँधनें से काम नहीं चलेगा। अगर रक्षाबंधन को वास्तविक रूप देना है तो भाई भाई की रक्षा करे। पड़ौसी पड़ौसी की रक्षा करे। ग्राम नगर की रक्षा करे और नगर ग्राम की रक्षा करे! किसान साहूकार की रक्षा करे और साहूकार किसान की रक्षा करे। इसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की

रक्षा करे। सभी सब की रक्षा करने में तत्पर रहे। यह कर्त्तव्य-भावना जिसके हृदय में सदा जागृत रहेगी उसकी रक्षा होगी।

भगवान् महावीर स्वामी ने हुक्म दिया है कि पाँच कारणो से साधु चौमासे में विहार कर सकता है। पहले, अगर राजा की दृष्टि खराब हो जाय तो चला जाय। दूसरा, कोई साधु बीमार हो जाय और उनकी सेवा करने के लिये पहुँचना अनिवार्य हो तो विहार कर जाय! तीसरे कोई साधु बहुत वृद्ध हो और विशिष्ट ज्ञानी हो तो उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए जा सकता है। चौथे, जिस गाँव मे साधु स्थित है, उसमे यदि दुष्काल पड़ जाय तो अन्यत्र विहार कर सकता है। पाँचवें, यदि उस गाँव में आहार-पानी दूषित मिलता हो तो चौमासे मे भी अन्यत्र गमन कर सकता है। भगवान् के इस आदेश से स्पष्ट हो जाता है कि बीमार की सेवा को भगवान् ने कितना महत्व दिया है। जैसे साधु, साधु की सेवा करता है, उसी तरह गृहस्थ का कर्त्तव्य गृहस्थ की सेवा करना है।

रक्षाबंधन को यह सारो समझ मतलब भाई रे।
चौथमल ने राणाजी को रक्षा सुनाई रे॥

रक्षाबन्धन का यह उपदेश हमने महाराणा फतहसिंहजी (उदयपुर-नरेश) को भी सुनाया था। आपको भी सुना रहा हूँ। हमारे लिए रंक और राजा समान हैं। समान भाव से प्रभु के आदेश को श्रोताओं के कानों तक पहुँचा देना हमारा कर्त्तव्य है। भगवान् ने कहा है.—

जहा पुरणस्य कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ ।

—आचारांग सूत्र

अर्थात्—संत पुरुष जैसे सधन को उपदेश देते हैं वैसे ही निर्धन को भी उपदेश देते हैं ।

राखी का संदेश संक्षेप मे मैंने आपको सुनाया है । आपका कर्त्तव्य है कि आप दूसरों की रक्षा करें और दूसरो की रक्षा करने मे ही अपनी रक्षा समझे । भाइयो, रक्षा करो, करो और संसार-समुद्र से तरो; विना किये मत मरो । पाप से डरो, सुख से विचरो और मुक्ति श्री को वरो ।

जम्बू-स्वामी की कथा ❀

श्री सुधर्मा स्वामी ऐसे ही उपदेशक थे जो राजा-रंक पर समान भाव रखते हुए विचरते थे । विचरते-विचरते वे राजगृह नगर मे पधारे और नगर से बाहर एक उद्यान में ठहर गये । उस समय राजा श्रेणिक का पुत्र कोणिक गद्दी पर था । बागवान ने राजा कोणिक को श्रीसुधर्मा स्वामी के पधारने का समाचार दिया तो राजा को अत्यन्त हर्ष हुआ और उसने बागवान को खूब इनाम देकर विदा किया । तत्पश्चात् राजा कोणिक स्नान करके वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत होकर अपनी चतुरंगी सेना के साथ सुधर्मा स्वामी के दर्शन के लिए रवाना हुआ । नगर-निवासियो मे भी यह समाचार वायुवेग से फैल गया । नर और

❀ भावदेव के जीव ने अब जम्बूकुमार के रूप में जन्म ग्रहण किया है । अतः कथा का शीर्षक बदल दिया है । कथा वही चालू है ।

नारियाँ, बालक और वृद्ध सभी भगवान् सुधर्मा स्वामी के पुण्य-दर्शन के लिए चल पड़े। इस प्रकार उस उद्यान में मानो एक मेला लग गया। ऐसा जान पड़ने लगा मानो राजगृह नगर सारा का सारा वहाँ आ पहुँचा हो।

इधर जम्बूकुमार बिंदौरी खा रहे थे। शादी के सिर्फ तीन दिन शेष रहे थे। उन्होने राजा कोणिक की सवारी देख कर पूछा—आज महाराज किधर पधार रहे हैं? मालूम हुआ कि चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर के गद्दीधर, प्रवर ज्ञानी, तपोनिष्ठ, महा-महात्मा सुधर्मा स्वामी के दर्शन के लिए सवारी जा रही है।

कुमार बड़े विनीत थे। उनके चरित से मालूम होता है कि वे माता-पिता की आज्ञा बिना कभी कोई कार्य नहीं करते थे। इस अवसर पर भी वे माता से आज्ञा लेने पहुँचे। उन्होंने कहा—माँ भगवान् सुधर्मा स्वामी पधारे है और उनके दर्शन के लिए नगर-निवासियों का तांता लग रहा है। महाराज कोणिक भी पधारे हैं। मैं भी जाना चाहता हूँ।

माँ गड़बड़ में पड़ गई। धर्म-कार्य मे पुत्र को रोकना भी उचित नहीं है और इस अवस्था मे नगर से बाहर जाने देना भी ठीक नहीं है। फिर कुछ सोचकर वह बोली—बेटा! तेरे पीठी-मर्दन की हुई है, तेरा बाहर जाना उचित नहीं है।

जम्बूकुमार ने कहा—माँ, धर्म-कर्म के लिए बाहर जाने में क्या बाधा है? इसमे कोई विघ्न नहीं होगा। महात्माओं के दर्शन करने से अमंगल का नाश होता है और मंगल होता है। फिर क्यों वहम करती हो?

जम्बूकुमार की माता धर्मज्ञ थी। वह जानती थी कि सन्तों के दर्शन महामंगलमय होते हैं। फिर भी लौकिक परम्परा से वह ऊँची नहीं उठ सकी। माता के हृदय में अपने पुत्र के प्रति कितनी ममता, कितनी वत्सलता और कैसी कोमल भावना होती है, यह बात तो माता ही पूरी तरह समझ सकती है। और जहाँ स्नेह की अधिकता होती है वहाँ दुश्चिन्ताएँ भी हुआ करती हैं। परम्परा से जो वहम चले आते हैं, उनके कारण अलक्षित अनिष्ट की आशंका करके माता ने कहा—बेटा, तुझे क्या पता है? तू अभी नादान है। मैं सब समझती हूँ।

जम्बूकुमार—माँ, तुम सब समझती तो हो, मगर पुत्र-मोह के कारण अपने समझे हुए को भूल रही हो, जब हम किसी का अनिष्ट नहीं करते तो कौन हमारा अनिष्ट करेगा? अनिष्ट तो उसी का होता है जो दूसरों का अनिष्ट करे।

कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। एक आदमी अपनी पत्नी को लाने के लिए घर से निकला। वह रास्ते में जा रहा था कि सर्दी से ठिठुरा हुआ और अकड़ा हुआ एक सांप उसे दिखाई दिया। राहगीर दयालु था। सांप को इस हालत में देखकर उसके दिल में दया आ गई। उसने उसे कंबल में लपेटा और बगल में दबा लिया। सांप की सर्दी दूर हुई। गर्मी पहुँची। स्फूर्ति आ गई। यह देखकर राहगीर ने उसे जमीन पर छोड़ दिया। मगर सांप फुफकारता हुआ उसके सामने आया और बोला—'मैं तुझे काटूंगा।' राहगीर ने कहा—'मैंने तेरे ऊपर दया की है और तू इस प्रकार बदला चुकाना चाहता है!' सांप बोला—मैंने कब कहा था कि मुझ पर दया कर? मैं बिना काटे नहीं रहूंगा।'

आखिर राहगीर ने कहा—तुझे काटना तो नहीं चाहिए; मगर यदि काटना ही है तो मुझे सुसराल जाकर आने दे। लौटते समय काट लेना।

सांप ने यह बात स्वीकार कर ली। राहगीर सुसराल पहुंचा मगर उसका चित्त उदास और खिन्न था। उसने किसी से इस संबंध में कुछ भी नहीं कहा और कुछ दिन वहाँ ठहर कर और अपनी पत्नी को साथ लेकर वापिस लौटा। जब वह उस जगह पहुँचा तो सांप फिर मिल गया। उसे देख राहगीर ने कहा—ले, काट ले, मै आ गया हूँ।

यह हाल देखकर उसकी पत्नी बुरी तरह घबरा उठी। उसने सांप को हाथ जोड़कर कहा—मैं छोटी हूँ। न सासरे की और न पीहर की रही! नागदेव, मुझ पर दया करो और मेरे पति को बचने दो।

सांप बोला—मैं तेरा प्रबंध किये देता हूँ। पति के अभाव में भी तुझे किसी प्रकार का कष्ट न होगा, ऐसी व्यवस्था किये देता हूँ। मैं तुझे एक ऐसी बूटी दूंगा जिससे दुनिया तुझे पूजेगी।

स्त्री ने कहा—पति ही पत्नी का सुख है, सौभाग्य है, सर्वस्व है। सारे संसार का वैभव पाकर भी पतिव्रता पत्नी, पति के अभाव में सुखी नहीं हो सकती। पति का वियोग होना अपने आप में ही कष्ट है और घोर कष्ट है। फिर तुम्हारी बूटी मुझे कष्ट से कैसे बचा लेगी?

सांप ने स्त्री की बात सुनी अनसुनी कर दी। वह बूटी लेने के लिए चल दिया जरा-सी देर में ही वह बूटी ले आया और बोला—

जो तेरा कहा न माने उसी पर यह डाल देना। वह तुरन्त भस्म हो जायगा।

स्त्री को नवीन बात सूझ गई। उसने सांप से वह बूटी लेकर कहा—तुझ से बढ़कर मेरा दुश्मन और कौन होगा? और उसने सांप पर ही वह बूटी डाल दी। सांप उसी समय भस्म हो गया। उसने अपने किये का फल पाया।

जम्बूकुमार बोले—माँ, जो दूसरों का भला करता है, उसका भला ही होता है। जो जैसा करेगा वैसा भरेगा। धर्म महामङ्गल है। उससे अमङ्गल क्यों होगा? इसलिए तुम निश्चिन्त रहो और मुझे श्रीसुधर्मास्वामी के दर्शन करने की आज्ञा दे दो।

जम्बूकुमार का प्रबल आग्रह देख माता ने जाने की आज्ञा दे दी। कुमार दर्शन के लिए रवाना हो गये! परिषद् भरी थी। राजा कोणिक भी बैठे थे। जम्बूकुमार बींद के वेष में वहाँ पहुँचे और अपने योग्य स्थान पर यथोचित वन्दना-नमस्कार करके बैठ गये।

श्री सुधर्मा स्वामी का उपदेश हुआ। उन्होंने फ़रमाया—भव्य जीवो! स्मरण रक्खो कि मनुष्य का जीवन अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य जीवन पाकर आर्यावर्त्त में उत्पन्न होने का सुयोग पा लेना तो सोने मे सुगंध ही समझना चाहिये। फिर सद्धर्म को श्रवण करने का सौभाग्य मिलना भी कठिन है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और वीतराग भगवान् के मुखचन्द्र से झरने वाले लोकोत्तर वचन-पीयूष का जो पान करते हैं, वे अत्यन्त पुण्यशाली हैं। लेकिन धर्मश्रवण करके भी बहुत-से लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर पाते। कोई विरले

ही महाभाग धर्म पर श्रद्धा करते हैं और फिर उस धर्म का आचरण करने वाले तो और भी अल्प हैं।

हे भव्य जीवो ! असीम पुण्य के परिपाक से तुम्हे जो सुयोग मिला है, उसका मूल्य समझो ! उसे विषय-भोगों में आसक्त होकर मत गँवाओ। अनादि काल से आत्म नाना प्रकार की योनियो में भटकता फिर रहा है। इसे अपने यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि नहीं हुई। अब अपने स्वरूप को समझो। धर्म पर श्रद्धा और प्रतीति करो। उसे अपने जीवन-व्यवहार मे लाओ।

संसारी जीव धन और यौवन पाकर पागल हो जाता है; मगर उसे समझना चाहिए कि यह सब बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर हैं। इन्द्र-धनुष की भाँति देखते-देखते विलीन हो जाने वाली वस्तुएं हैं। इनको पाकर क्या इतराना ?

इस भूतल पर बड़े-बड़े राजा-महाराजा और छत्रपति आये और थोड़े समय अपना ताण्डव दिखला कर चले गये। मौत ने किसी को नहीं छोड़ा। किसी के साथ रियायत नहीं की। आज उनमें से एक भी यहाँ नहीं है। सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न गतियो को प्राप्त हुए। क्या तुम आशा करते हो कि तुम्हें यह पर्याय नहीं छोड़नी पड़ेगी ? तुम समझदार हो और समझते हो कि किसी भी क्षण इस देह का विनिपात हो जायगा और आगे किसी अन्य योनि में जन्म लेना पड़ेगा। तो फिर निश्चिन्त क्यों बैठे हो ? जिसने मौत के साथ समझौता नहीं किया हो उसे एक भी पल का विलम्ब किये बिना अपने स्थायी कल्याण के कार्य में जुट जाना चाहिए। जब मौत आती है तो:—

मचा है जोर शोर मृत्यु का चारों ओर,
कैसे—कैसे जाए जाए कैसे-कैसे जाए ॥टेर॥
काँप रहे हैं सुर-नर सारे कौन समय आ जाय।
राग-रंग सब भूले परिया ऐसी धूम मचाए॥
चरा नहीं लागे थारी कुम्हलाए फूल—क्यारी,
कोई न रहाये ॥ १ ॥
चक्रवर्ती हरि हलधर जग में महा बलवंत कहाए,
मौत पकड़ ले जाये इनको कोई नहीं बचाए।
चौथमल कहे प्यारे धर्म में जो दिल में धारे।
अमर हो जावे ॥ २ ॥

भाई, इस मौत के आगे कोई खड़ा नहीं रह सकता। संसार में कोई अमर रहा नहीं और रहेगा नहीं। हाँ, अमर केवल वही होगा जो संसार से अतीत हो जायगा। जो धर्म की आराधना करके सिद्धि प्राप्त करेगा वही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकेगा।

इस आशय का उपदेश सुनकर समस्त परिषद् सुधर्मा स्वामी को वन्दन-नमस्कार करके चली गई। इन लोगों के चले जाने के पश्चात् जम्बूकुमार उठे और नमस्कार करके बोले:—

भंते ! मैंने आज से पहले कभी ऐसा धर्मोपदेश नहीं सुना था। आज आपके वचनामृत का पान करके मैं कृतार्थ हो गया। मैं इस उपदेश पर श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ। मुझे यह रुचिकर हुआ है। मैं अपने माता-पिता से आज्ञा लेकर संयम ग्रहण करना चाहता हूँ।

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया-वत्स, जैसी तेरी इच्छा ! लेकिन धर्म-कार्य में प्रमाद करना उचित नहीं है।

भाइयो ! उधर विवाह को तीन दिन शेष हैं और इधर यह वैराग्य का रंग चढ़ा है ! किसी को कानी-कुबड़ी मिल जाती है तो वह समझता है-पद्मिनी मिल गई है ! मगर यहाँ तो एक साथ आठ कन्याएँ मिल रही हैं और वे सभी एक दूसरी से बढ़कर सौन्दर्य-शालिनी हैं। इन्द्राणी को भी मात करने वाली हैं। तिस पर भी जम्बूकुमार का हृदय वैराग्य के रंग से रँग गया है। पूर्व के धर्ममय संस्कारों का ही यह शुभ परिणाम है। धन्य हैं ऐसे भावनाशाली पुण्य-पुरुष !

जम्बूकुमार पुनः वन्दना-नमस्कार करके घर की ओर लौटते हैं। आगे क्या घटना घटती है, यह आगे मालूम होगा।

जोधपुर, }
ता० १६-८-४८ }
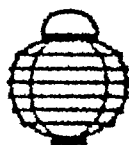
चिकने कर्म !

॥ स्तुति ॥

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रयद्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं कि हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम भगवान् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ ?

भगवान् जब समवसरण में विराजमान होते हैं तो उनके पीछे एक भामण्डल होता है । वह बड़ा ही सुन्दर होता है और प्रकाशमय होता है । उसके सामने अनेक सूर्यों और चन्द्रमाओं का प्रकाश भी फीका पड़ जाता है । उस सौम्य प्रकाश से परिपूर्ण भामण्डल के कारण भगवान् चतुरानन दृष्टिगोचर होते हैं । अर्थात् जिस किसी भी ओर से भगवान् के दर्शन किये जाएँ, भगवान् का मुख उसी ओर मालूम होता है ।

भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पिणीकाल के तीसरे आरे के अन्तिम काल में इस भूमि पर अवतरित हुए थे। उस समय तक अकर्मभूमि (भोगभूमि) की व्यवस्था चल रही थी। उस समय के नर-नारी 'जुगलिया' कहलाते थे; क्योंकि वे युगल के रूप में साथ-साथ ही उत्पन्न होते थे और साथ-साथ ही देह का त्याग करते थे। उस समय की जनता बहुत सादगी के साथ जीवन व्यतीत करती थी। यद्यपि उस समय धर्म की स्थापना नहीं हुई थी फिर भी जनता प्रकृत्ति से ही भद्र और मंद कषाय वाली थी। सब लोग बड़ी शान्ति के साथ जीवन-निर्वाह करते थे। झूठ, कपट, बेईमानी और व्यभिचार का दौरदौरा नहीं था।

उस समय दस प्रकार के कल्पवृक्ष थे। अकर्मभूमि की जनता की समस्त आवश्यकताएँ इन कल्पवृक्षों से ही पूर्ण होती थी। लोगों को न ज्यादा लोभ था, न तृष्णा थी। सन्तोषमय जीवन था।

काल के प्रभाव से धीरे-धीरे कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण होने लगी। क्षीण होते-होते एक समय ऐसा आया कि उनसे फलों की प्राप्ति होना बन्द हो गया। अकर्मभूमि के लोग तब तक जीविका का कोई भी दूसरा उपाय नहीं जानते थे। अतएव वे घोर संकट में पड़ गये। उस समय भगवान् ऋषभदेव ही वहाँ सब से बड़े ज्ञानी थे। उन्हें जन्म से ही विशिष्ट अवधिज्ञान प्राप्त था। भगवान् महान् दयालु भी थे। उनके विशाल हृदय से करुणा की अखंड धारा प्रवाहित होती रहती थी। उनके असाधारण और उच्च व्यक्तित्व की सब पर गहरी छाप थी। सभी लोग उन्हें अपना पथप्रदर्शक, नेता, त्राता और आश्रयदाता मानते थे। उनके महान् व्यक्तित्व पर सभी को श्रद्धा थी। वे सब के अकारण बन्धु थे।

जब कल्पवृक्षों की शक्ति लुप्त हो गई और लोग घोर संकट में पड़े तो वे भगवान् की शरण मे पहुँचे। भगवान् ने लोगो पर अपनी अमृत भरी दृष्टि डाली और दया से प्रेरित होकर प्रजा के हित और सुख के लिए जीविका के मार्ग बतलाए। असि, मसि और कृषि की आजीविका स्थापित की। भगवान् ने अनाज बोना, तैयार करना, पकाना और खाना सिखलाया, अपने हाथो मिट्टी के बर्त्तन बना कर कुम्भकार कला का बीज रोपा; धीरे-धीरे समस्त कलाएँ और विद्याएँ सिखलाईं।

भगवान् ऋषभदेव का चरित बहुत लम्बा है। आशय यह है कि उन्होंने दुनिया को एक नवीन साँचे मे ढाल कर जीवन का मार्ग सुझाया। भगवान् ने जो कलाएँ और विद्याएँ सिखाई थी, उनमे यद्यपि आज अनेकानेक परिवर्त्तन हो गये है, फिर भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि आज भी मनुष्य-जाति के लिए मूल आधार वही हैं। उनकी चलाई हुई विवाह प्रथा और दूसरे सामाजिक रिवाज आज भी मनुष्य जाति के लिए बहुमूल्य देन है। भगवान् ने संसार का जो महान् से महान् उपकार किया है, उसकी सहसा कल्पना करना भी कठिन है। भगवान् ने कृषिकला न सिखलाई होती तो लोग एक दूसरे को फाड़-फाड़ कर खा जाते और विवाह प्रथा न चलाई होती तो कुत्तों की तरह आपस में लड़ते-झगड़ते! मनुष्य जाति की ऐसी स्थिति में कितनी दुर्दशा होती! भगवान् की कृपा से, असंख्य समय बीत जाने पर भी आज मनुष्य सुख-शान्ति के साथ अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। जगत् को भगवान् की यह देन साधारण नहीं है।

गार्हस्थ्य और सामाजिक जीवन की सुन्दर व्यवस्था करने के पश्चात् भगवान् ने स्वयं दीक्षा धारण की, तपस्या की और केवल ज्ञान प्राप्त करके जगत् को धर्म का लोकोत्तर कल्याण का मार्ग प्रदर्शित किया। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव का इस दुनिया पर असीम उपकार है। ऐसे परमोपकारी भगवान् ऋषभदेव को हमारा वार-वार नमस्कार है।

भगवान् ऋषभदेव के अनन्तर समय-समय पर बाईस तीर्थंकर और हुए। उन सब ने भी अपने-अपने समय में जनता पर अपरिमित उपकार किया और शाश्वत सत्य का सन्मार्ग सुझाया। अन्त मे चौवीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर हुए। भगवान महावीर के पश्चात् कुछ केवल ज्ञानी तो अवश्य हुए किन्तु तीर्थंकर कोई नहीं हुआ। आज हमारे सामने जो धार्मिक परम्पराएँ हैं वे मूलतः महावीर भगवान् की ही देन हैं। हमारे पास श्रुतज्ञान का जो भी भंडार है, धर्म की जो भी संपत्ति है, वह सब भ० महावीर का ही वरदान है। भगवान् महावीर स्वामी ने जगत् के जीवो के परम कल्याण के लिए जो प्रवचन फरमाये थे, वही हम आपको सुनाते हैं।

भगवान महावीर ने जो प्रवचन किये थे, उनके प्रधान शिष्य गणधर उन्हें कंठस्थ रखते थे। उनकी ग्रहण और धारण करने की शक्ति बड़ी प्रखर थी। अर्थात्-उनकी बुद्धि और स्मरणशक्ति बहुत तीव्र थी। वे भगवान के प्रवचनों को सुनकर उन्हें ग्रन्थ का रूप प्रदान करते थे। धीरे-धीरे समय बीतता गया और स्मरणशक्ति में अन्तर पड़ने लगा, तब आचार्यों ने उन प्रवचनों को लिपिबद्ध कर दिया। उन्होंने सोचा-स्मरणशक्ति दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है। अगर यह अनमोल ज्ञान विस्मृत हो गया तो दुनिया

का उद्धार होना कठिन हो जायगा । लिपिबद्ध करने-कराने वाले आचार्य देवर्धिगणी क्षमाश्रमण थे। भगवान् के प्रवचन बारह भागों में लिखे गये, जिन्हे अंग कहते हैं।

(१) पहला अंग आचारांग है । इसमें श्रमण (साधु) के आचार का वर्णन है। साधु को क्या कल्पता है और क्या नहीं कल्पता है, इसका जिक्र चलता है। आचार का ब्यौरे के साथ स्पष्टीकरण किया गया है। भिक्षा लेने की विधि, विनय, विनय का फल, समिति आदि-आदि का भी प्ररूपण किया गया है।

(२) दूसरा अंग सूयगडांग है। इसमे संसार के ३६३ मतो का दिग्दर्शन है। स्वसिद्धान्त का भी बहुत ही सुन्दर और प्रभावशाली शब्दों मे वर्णन है।

(३) तीसरे स्थानांग सूत्र में संख्या-क्रम से पदार्थों का निरूपण है । जीव, अजीव, लोक, अलोक आदि का वर्णन किया गया है

(४) चौथे समवायांग सूत्र में भी स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त का अंकसंख्या क्रम के अनुसार वर्णन है।

(५) पांचवे व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र मे स्वसमय परसमय, जीव, अजीव, देव, राजा, राजर्षि आदि जिज्ञासुओं द्वारा पूछे हुए प्रश्नों के भगवान् द्वारा दिए हुए उत्तर संगृहीत हैं। इन प्रश्नो की संख्या ३६००० है और उत्तरों की संख्या भी इतनी ही समझनी चाहिए। कहीं-कहीं भगवान् ने अपनी ओर से जो व्याख्या की है, उसका भी इसमें संग्रह है।

(६) छठे ज्ञातृ-धर्म कथांग सूत्र में नगर, उद्यान, चैत्य, वनखंड, राजा, माता-पिता समवसरण, धर्माचार्य, दीक्षा, तपस्या, आदि का वर्णन है। अनेक उदाहरणों के द्वारा जगत् के सामने सुन्दर आदर्श खड़े किये गये हैं।

(७) सातवां उपासकदशांग सूत्र है। इसमें भगवान् महावीर के दस प्रधान और धर्मनिष्ठ श्रावकों के जीवन-चरित्र बतलाये गये हैं।

(८) आठवे अन्तकृद्दशांग मे तीर्थंकर आदि के नगर, उद्यान चैत्य, वनखण्ड, माता-पिता, समवसरण, धर्मकथा, ऋद्धि, दीक्षा तपस्वा, पड़िमा आदि-आदि विषयों का वर्णन है।

(६) अनुत्तरोपपातिक में वर्णन है कि ६३ जीव संयम का पालन करके अनुत्तर विमानो में उत्पन्न हुए और वहाँ से एक भव करके मोक्ष प्राप्त करेंगे।

(१०) दसवां अंग प्रश्नव्याकरण है। इस अंग मे पहले अनेक प्रकार की विद्याओं का और मंत्रो का वर्णन था। किन्तु आचार्यों ने जनता के लिए हानिकारक समझ कर वह वर्णन हटा दिया है। अथवा संभव है कि यह गुप्त विद्या और मन्त्र विस्मृत होने के कारण लुप्त हो गये है। कुछ भी हो, इस समय इस सूत्र में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का वर्णन है। इस सूत्र का विषय बड़ा हृदयग्राही है।

(११) ग्यारहवाँ विपाकसूत्र है। इसमें पुण्य और पाप के फल का वर्णन उदाहरणों समेत बतलाया गया है। इसके दो भाग हैं-

सुखविपाक और दुःखविपाक । दोनों विभागो में दोनों तत्त्वो का विवरण है ।

(१२) बारहवाँ दृष्टिवाद अत्यन्त विशाल अंग था और ज्ञान का असीम सागर था । उसमें बड़े विस्तार के साथ समस्त पदार्थों की प्ररूपणा की गई थी । इसके पाँच विभाग थे-परिकर्म, सूत्र, पूर्व, अनुयोग और चूलिका । आप जिन चौदह पूर्वो का नाम सुनते हैं, वे इसी शास्त्र के एक विभाग थे । खेद है कि वर्त्तमान काल में यह अंग पूरी तरह विच्छिन्न हो गया है । आज उसका थोड़ा-सा भी अंश उपलब्ध नहीं है ।

भगवान् महावीर स्वामी ने एक लम्बे अर्से तक तीव्रतर तपश्चरण करके जो तत्त्वज्ञान पाया था, उसी का निचोड़ इन शास्त्रों में भरा है और वह आपको अनायास ही प्राप्त हो रहा है । आपके लिए यह कितने सौभाग्य की बात है ? भाइयो, तनिक अपने सद्भाग्य का विचार करो और भगवान् की वाणी के इस लोकोत्तर अमृत को रुचि और प्रीति के साथ पान करो ।

भव्य जीव भगवान् के इन्हीं प्रवचनों को सुनकर दान देते हैं, शील पालते हैं, तपस्या करते हैं, शुभ क्रिया करते हैं, साधुपना पालते हैं या श्रावकधर्म की आराधना करते हैं । इस प्रवचन की आराधना करके भूतकाल में अनेक भव्य प्राणियो ने शाश्वत श्रेयस् और निःश्रेयस प्राप्त किया है, अनेक जीव वर्त्तमान में कल्याण-पथ पर अग्रसर हो रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे । वीतराग प्रभु द्वारा प्रदर्शित मार्ग ही एक मात्र आत्महित का साधन है । यह पथ्य है, तथ्य है, हितकारी है और सुखकारी है । इसके

विरुद्ध राग और द्वेष से ग्रस्त पुरुषों द्वारा प्ररूपित मार्ग कल्याणकारी नहीं हो सकते। वीतराग का मार्ग संसार-सागर से तिरने का मार्ग है। उसका अनुसरण करने से लोकोत्तर और लौकिक कल्याण की प्राप्ति होती है।

बहुत-से लोग समझते हैं कि वीतराग-प्ररूपित धर्म परलोक में ही कल्याणकारी है और वर्त्तमान जीवन के हित के साथ उसका कोई सरोकार नहीं है! यह बड़ी भ्रमपूर्ण धारणा है। भगवान् का धर्म परलोक की भांति इहलोक को भी सुखमय बनाने वाला है। जो इस जीवन को सुधारेगा, उसी का परलोक सुधरेगा। जो अन्याय-अनीति, दुर्विचार, दुर्व्यसन और दुराचार के द्वारा अपने इस जीवन को मलिन और पतित बनायेगा, उसका परलोक किस प्रकार सुधर सकता है? ऐसा विचार कर विवेकवान् पुरुष ऐसा व्यवहार करते हैं जिससे उभय लोक का सुधार हो।

जीवन को उच्च कोटि का बनाने के लिए भगवान् ने गृहस्थों के लिए बारह व्रत बतलाये हैं। मैं दावे के साथ यह बात प्रकट करना चाहता हूँ कि जो गृहस्थ उन व्रतों का पालन करेगा वह प्रत्येक परिस्थिति में सुखी रहेगा। उसका जीवन सन्तोषमय, शान्तिमय, नीतिमय और निराकुल बनेगा। उसे जीवन का मधारस प्राप्त होगा और कोई भी अभाव उसे कष्ट नहीं पहुँचा सकेगा। वह अभावों में से सद्भाव की सृष्टि करेगा, निराशा के निबिड अंधकार में से प्रकाश की जाज्वल्यमान ज्योति प्रकट करेगा; दुःखों में से सुख का आविष्कार करेगा और घोर अशान्ति में भी अनुपम शान्ति प्राप्त करेगा।

जिन भगवान् का धर्म जिसकी नस-नस मे रम गया है, संसार की कोई भी शक्ति उसे पराजित नहीं कर सकती, पराभूत नहीं कर सकती और पथ-विचलित नही कर सकती। क्या तुमने श्रावक कामदेव का जीवन चरित्र नहीं सुना है? उसने धर्म के द्वारा प्राप्त शक्ति के प्रभाव से देवता की शक्ति को भी परास्त कर दिया था। देवता को उसके आगे पराजित होना पड़ा था।

धर्म वह कवच है जो वेदना के बाणों का स्पर्श नहीं होने देता। धर्म वह विशाल ढाल है जिसके रहते दुनिया के दु:खो के प्रहार बेकार साबित होते है। धर्म वह दिव्य आग्नेय अस्त्र है कि जिसके प्रयोग से दु:खों की सेना पास तक नहीं फटक सकती।

धर्म को धारण करने वाला अगर निर्धन भी हो तो क्या हुआ? उसके पास वह स्वर्गीय सम्पत्ति का अक्षय भंडार होता है, जिसके लिए बड़े-बड़े सम्राट् भी तरसते रहते है। धर्मविमुख पुरुष लोभ-लालच और तृष्णा की आग में झुलसते रहते हैं और धर्मनिष्ठ पुरुष सन्तोष और शान्ति का अमृत पीता हुआ मुस्किराता रहता है।

भाइयो! इस प्रकार धर्म इस जीवन में भी असीम शान्तिदाता है। सुख और शान्ति प्राप्त करने का अमोघ उपाय है। अरे, यह धर्म तुम्हारा मंगल-साधन करने आया है और तुम अपने मंगल के लिए अमंगल के मार्ग पर आँख मीच कर क्यों दौड़े जा रहे हो? दुनिया के लोगो! मेरी बात सुनो। मैं तुम्हें सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और वीतराग देवों की बात सुना रहा हूँ। अपनी आँखें खोलो, जरा मुड़ कर देखो। धर्म जगत् को स्वर्ग बनाने वाला है। आत्मा को परमात्मा बनाने वाला है। नर को नारायण के रूप में बदल देने की क्षमता धर्म के सिवाय और किसी में नहीं है।

धर्म की बात सुनते हो तो घबराते क्यों हो ? धर्म शास्त्र कब कहता है कि तुम्हे धर्म की आराधना के लिए जंगल की राह लेनी ही चाहिए ? सिर मुंडवाना ही चाहिए ? कुटुम्ब और परिवार का परित्याग कर ही देना चाहिए ? इतना कर सको तो भले करो, न कर सको तो गृहस्थी में रहते हुए भी धर्म का पालन कर सकते हो। गृहस्थ के लिए बतलाये हुए बारह व्रतों का भी यदि पालन नहीं कर सकते तो कम से कम पाँच अणुव्रतो का ही पालन करो! जो गृहस्थधर्म धारण करता है उसकी दुर्गति नहीं होती। गृहस्थधर्म की भी भगवान् ने बड़ी महिमा गाई है। यह धर्म बहुत उच्च कोटि का है। भगवान ने कहा है.—

सन्ति एगेहि भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

कोई-कोई गृहस्थ भी अपनी विशिष्ट आराधना के द्वारा भिक्षुओं से भी सयम मे बढ़ कर होते हैं।

मगर यहाँ गृहस्थ का अर्थ साधारण सेठ-साहूकार या दिवानबहादुर और रायबहादुर नहीं समझ लेना चाहिए। गृहस्थ नरक मे भी जाता है, पशु-पक्षी की योनि भी पाता है, मनुष्य गति मे भी उत्पन्न हो सकता है और देव भी बन सकता है। जिसके पास पैसा है उसे लोग सेठ साहब कहते हैं। सेठ साहब का संबोधन सुनकर वह फूल जाता है। मगर सेठ साहब की पदवी ले लेना कोई बड़ी बात नहीं है। तुर्क बोहरे भी पैसा हो जाने पर सेठ साहब कहलाते हैं। लेकिन श्रावक बनना ऊँचे दर्जे की बात है। जब श्रावक का दर्जा आ जाता है तो वह जीव नरक में नहीं जाता,

पशु-पक्षी की योनि को भी नही पाता। आप दीवानबहादुर और रायबहादुर बनने के लिए लालायित रहते हैं, हजारो और लाखों रुपया बहा देते हैं। किन्तु यह खिताब तुम्हे नरक-तिर्यंच गति से नहीं बचा सकते। इनके होते हुए भी तुम नरक में जा सकते हो हाँ, 'श्रावक' का खिताब अलबत्ता ऐसा खिताब है जो नरक-निगोद और पशु-पक्षी की योनि से बचा सकता है। इस खिताब को पाने के लिए किसी की चापलूसी नही करनी पड़ती सिर्फ अपनी मनोवृत्ति पर काबू करना पड़ता है। अगर आपको सच्चा और असली खिताब लेना है तो आप श्रावकधर्म को धारण कीजिए कहा भी है:—

जो गृहस्थ धर्म को धारेगा चित्त लाई।
वह नहीं जावेगा नरक पशु गति माहीं॥

भाईयो ! गृहस्थ और गृहस्थधर्मी मे रात-दिन का अन्तर हो सकता है। गृहस्थ सभी गतियो मे जा सकता है किन्तु गृहस्थधर्मी नरक गति और तिर्यञ्च गति मे नहीं जाता।

पावेगा अमर-विमान अन्त शिव ताईं।
देखो आगम को खोल श्रीमुख गाई॥

गृहस्थ धर्म को धारण करने वाला एक बार तो अमर विमान में ही जाएगा। फिर मनुष्यलोक में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त करेगा। यह बात महावीर स्वामी ने स्वयं अपने मुख से फरमाई है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए। वह यह है कि गृहस्थधर्म को धारण करने से पहले श्रद्धा को मजबूत बनाना

चाहिए। अरिहन्त ही सच्चे देव हैं। वही परमात्मा हैं। उन्हीं पर विश्वास करो जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। बिगड़ी खोपड़ी का कोई कुछ भी कहे, उसकी बात पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

दूसरे, जो किसी भी सूक्ष्म या स्थूल प्राणी की हिंसा नहीं करते, असत्य-भाषण का पूर्ण रूप से जिन्होंने त्याग कर दिया है, जो अदत्तादान के त्यागी है, परिपूर्ण ब्रह्मचर्य पालते हैं, रात्रि मे अन्न-पानी का सेवन नहीं करते, ममता के त्यागी हैं—अकिंचन है, जो सवारी का उपयोग नहीं करते, नशा नहीं करते, कितनी ही गर्मी पड़ने पर भी पंखा नहीं झलते, तीव्र ठंड पड़ने पर भी अग्नि का सेवन नहीं करते, भोजन पकाने के लिए आरंभ-समारंभ नहीं करते, जो गृहस्थों के घर से निर्दोष भिक्षा करके अपने शरीर का निर्वाह करते हैं, ऐसे गुरुओं पर श्रद्धा रक्खो।

तीसरे, जीव-दया मे ही धर्म समझो। जहाँ जीव हिंसा है वहाँ स्वप्न मे भी धर्म नहीं है। हिंसा चाहे छोटी हो या मोटी हो, वह धर्म नहीं-अधर्म है-पाप है। कहा भी है:—

आरंभे नत्थि दया, महिलासंगो विणासइ बंभं।
संका सम्मत्तं नासेइ, पवज्जा अत्थगहणे।

श्रीमद् आचारांग सूत्र में कहा है कि जहाँ छह काया में से किसी भी काया की हिंसा होती हो वहाँ दया नहीं है। और जहाँ दया नहीं है वहाँ धर्म नहीं है। जहाँ धर्म नहीं है वहाँ मोक्ष भी नहीं है। तथा जहाँ स्त्रियों का संसर्ग है वहाँ ब्रह्मचर्य नहीं है। जहाँ अकेली स्त्री हो और पुरुष बार-बार वहाँ जाता हो तो समझना चाहिए कि उसके ब्रह्मचर्य को खतरा है। इसी प्रकार कोई महिला

वार-वार पुरुष का संसर्ग करे—उसके सम्पर्क मे आवे तो शील खंडित हो जाने की संभावना रहती है। सब तपस्याओं में ब्रह्मचर्य की तपस्या उत्तम वतलाई गई है। शास्त्र में कहा है:—

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं ।

अर्थात्—ब्रह्मचर्य सब तपों में उत्तम है।

और शंका से सम्यक्त्व का नाश हो जाता है। जिसके दिल में सन्देह होता है कि तपस्या करने के पश्चात् शरीर छोड़ने पर उसका कुछ फल मिलेगा या नहीं मिलेगा? तपस्या मे क्या धरा है? हरी वनस्पति न खाने से क्या लाभ हो सकता है? कौन जाने परलोक है भी या नहीं है? पुण्य और पाप का फल परलोक में भोगना पड़ता है या नहीं? परलोक है भी या कल्पना मात्र है? इस प्रकार का सदेह जिसके हृदय में प्रवेश कर जाता है, उसका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है या समझना चाहिए कि सम्यक्त्व अर्थात् सच्ची श्रद्धा उसमें अभी पैदा ही नहीं हुई है। जिसके हृदय में श्रद्धा नहीं है, जो कुशंकाओं और कुतर्कों से घिरा हुआ है, वह अपना परलोक तो विगाड़ता ही है, इस लोक को भी नहीं सुधार सकता। गीता मे कहा है—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्

अर्थात्–जिसके अन्तःकरण में श्रद्धा होती है वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। श्रद्धाहीन व्यक्ति का कल्याण नहीं हो सकता।

और जिसके पास कलदार होंगे, उसमें साधुता नहीं आएगी। यहाँ तक कि पहने हुए चश्मे की डंडी अगर सोने की या अन्य

किसी धातु की है तो समझना चाहिए कि वह परिग्रह है और जो परिग्रहवान् है वह साधु नहीं है। साधु सुई भी अपने पास नहीं रखते। सोना, चांदी, रुपया और नोट भी नहीं रखते।

तो भाईयो, आप विश्वास रखिए कि जहाँ दया है वहीं धर्म है। दया में धर्म मानना, सत्य मे धर्म मानना, सदाचारी रहना, पराई स्त्री को माता बहिन के समान समझना और इसी मे धर्म मानना चाहिए। इस प्रकार पक्की श्रद्धा करके फिर कम से कम पाँच बातो का आचरण करना चाहिए। वे पाँच बातें यह हैं:—

पहले व्रत में हिंसा स्थूल न कीजे।
नहीं बोले झूठ चोरी तीजे तज दीजे॥
तू परनारी का संग कभी मत कीजे।
कर निजदारासंतोष नेम से रहीजे॥
धन-धान्य आदि की मर्यादा करे भाई।

इन पाँच बातों मे पहला स्थान स्थूल हिंसा को त्यागने का है। हिंसा चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म हो सर्वथा त्याग करने योग्य है मगर गृहस्थ गृहस्थी में रहता हुआ हिंसा से पूरी तरह बच नहीं सकता। अतएव उसके लिए भगवान ने आंशिक हिंसा को त्यागने का व्रत बतलाया है। निरपराध चलने फिरने वाले (त्रस) जीवों की, इरादापूर्वक हिंसा नहीं करनी चाहिए और न करानी चाहिए। लट और कीड़ी से लेकर मनुष्य पर्यन्त द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं। इनकी संकल्पी हिंसा से बचना चाहिए।

कई लोग चलते-चलते व्यर्थ ही गाय आदि प्राणियों को डन्डे से मार देते हैं। मगर क्या हाथ आया मारने वाले के ? कोई बैठे-बैठे कुए मे पत्थर पटकते रहते हैं ! इससे भी क्या लाभ होता है ?

अकसर जहाँ पांच आदमी बैठते है वहाँ बिना प्रयोजन ही दूसरों की निन्दा करने लगते हैं। वह ऐसा है, वह वैसा है, फलां आदमी खराब है, इस प्रकार गप्पे हाँकते रहते है। क्यों साहब, क्या हाथ आया ? दूसरों की बुराई करके आप क्यों बुरा बन रहे हैं ? वृथा पाप की गठरी क्यों आप अपने माथे पर रख रहे हैं ?

दूसरो की निन्दा करने से आपके हाथ कुछ भी नहीं आएगा। अगर आया भी तो अवगुण ही आएँगे; लड़ाई-झगड़ा होगा और जूती-पैजार भी हो सकता है। दूसरो की निंदा करना भी एक प्रकार की हिंसा है। हिंसा को त्यागने वाले का कर्त्तव्य है कि वह निन्दा और विकथा का भी त्याग करे। ऐसा करने से उसकी अहिंसा चमक उठेगी।

हाँ, तो पहला धर्म है 'थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं' अर्थात् स्थूल हिंसा का त्याग करना।

बहिनो ! सुन लेना और ध्यान देकर समझ लेना। यह पहली बात धारण करोगी तो तिर जाओगी। याद रखना, किसी का गर्भ मत गिरवाना। किसी को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ऐसी ऐसी सलाह मत देना। गर्भपात करना या करवाना पंचेन्द्रिय मनुष्य की घात है ! यह बड़ी ही घोर हिंसा है, घोर पाप है। यह

पाप नरक गति मे ढकेलने वाला है। प्रायः अनैतिक आचरण के फलस्वरूप ही गर्भपात का अवसर आता है। अनैतिक आचरण करना एक पाप है तो उसे छिपाने के लिए उससे भी बड़ा दूसरा पाप करना क्या उचित है? और भी कितने ही ऐसे पाप हैं जिनका जिक्र करना भी अच्छा नहीं मालूम होता। वे पाप ऐसे हैं कि उनको करने से सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक दुष्फल भोगना पड़ता है। ऐसी पापमय भावना जिसमे रहती है उसे सम्यक्त्व की भी प्राप्ति नहीं होती। उसे धर्म प्यारा नहीं लगता। कहा भी है:—

ये कर्म चिकने, कोई मत बांधो नर-नार ॥ ध्रुव ॥

भाइयो ! समवायांग के तीसरे समवाय मे ऐसे पाप बतलाये हैं, जिनकी स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम तक की होती है। हम तो यही कहते हैं, यही प्रेरणा करते हैं कि ऐसे पापों से बचो और ऐसे चिकने कर्म मत बाँधो। बाँधना ही हो तो आपकी मर्जी, मगर याद रखना, भोगते समय नानी याद आये बिना नहीं रहेगी। उनमें से कुछ पापों का विवरण इस प्रकार है.—

जल में डार मारे प्राणी, धुआं अग्नि में जार ॥१॥

उनमें से पहला पाप तो यह है कि किसी स्त्री या पुरुष को धक्का देकर या उसके हाथ पैर बाँध कर पानी में पटक देना और मार डालना। इसी प्रकार जलती हुई-अग्नि में फेंक कर जला देना या तेल छिड़ककर आग लगा देना अथवा धुएँ में बन्द करके मार डालना भी ऐसा ही पाप है। ऐसे पाप करना अभी तो खेल है लेकिन चौरासी में फैल है। ऐसा करने वाला जन्म

जन्मान्तर मे भीषण वेदनाओं का भागी होता है । वह नाना नीच योनियो में भटकता फिरता है। ऐसे घोर पाप कर्म जब उदय में आते हे तो वह कहता है–हाय राम ! ऐसा क्यों होता है? मगर उसी की अन्तरात्मा उसे उत्तर देती है–अरे बेईमान ! तू ऐसे-ऐसे बुरे काम करके आया है और अब 'अरे राम' 'अरे राम' चिल्लाता है !

भाइयो ! तुम्हे महान् धर्म को श्रवण करने का अवसर मिला है और तुम विवेकवान् हो। अतएव ऐसे कर्म मत बांधना। जिस घर में ऐसा आचार हो, उस घर मे अपनी कन्या को भी मत देना। अपनी कन्या की सगाई करनी हो तो विना छानवीन किये मत करना। कन्या देते समय कुल के आचार का और वर की योग्यता का मुख्य रूप से विचार करना ही हितावह होता है। कहा है:—

योग्य वर देखना यों मात-पिता सोचे मन माहीं रे ॥ध्रुव॥
बराबरी को योग मिले तो, सुख मिले ज्यूँ चावे रे ।
जोड़ी में फर्क होय तो, वर दुःख पावे रे ॥१॥

भाइयो ! आजकल के लोगो का दृष्टिकोण पैसा-प्रधान बन गया है। वे सर्वत्र पैसे को ही मुख्यता देते हैं। प्रत्येक चीज़ को पैसे के गज से ही नापते हैं। धन के सिवाय और किसी वस्तु का उनकी आंखों में कोई मूल्य ही नहीं है। अतएव जब वे अपनी कन्या का संबंध करते हैं तब भी धन को ही मुख्यता देते हैं। लड़का अपढ़ हो तो परवाह नहीं, दुराचारी हो तो चिन्ता नहीं, रोगी हो तो कोई बात नहीं, संस्कारहीन हो तो भले हो, कम उम्र

का या बहुत अधिक उम्र का हो तो भी क्या हानि है ! मगर पैसे वाला होना चाहिए। आज सर्वसाधारण की यही दृष्टि बन गई है। इसका परिणाम यह होता है कि जीवन का स्तर ऊँचा नहीं उठ पाता और सामाजिक दृष्टि से भी अनेक अनर्थ होते हैं।

माता-पिता को सोचना चाहिए कि एक मात्र धन ही किसी के जीवन को सुखी और उन्नत नहीं बना सकता। शिक्षा, सुसंस्कार, धार्मिकता और नैतिकता आदि सद्गुण जिसमें विद्यमान् हों, विवेकवान् माता-पिता उसी वर को पसंद करते हैं। वे यह ध्यान में रखते है कि हमें धन के साथ अपनी कन्या का विवाह नहीं करना है, बल्कि मनुष्य के साथ करना है और इसीलिए वे धन से ही किसी को योग्य नहीं समझ लेते, बल्कि सद्गुणों से ही योग्यता की जांच करते हैं।

पत्नी, पति की अर्धाङ्गना कहलाती है अर्थात् वह पति का आधा अङ्ग है। ऐसी स्थिति में पति और पत्नी की योग्यता, रुचि और शिक्षा अगर समान न हो तो दोनों को ही असन्तोष और अशान्ति रहती है। बराबरी का योग मिलने पर ही गृहस्थी सुखमय होती है। अगर दोनों में विषमता होती है तो उनके बीच एक प्रकार की दीवार-सी रहती है। दिल से दिल नहीं मिलता और ऐसी हालत में जीवन अशान्तिमय बन जाना स्वाभाविक है। अतः जो माता-पिता विवेकशील होते हैं, वे भलीभांति छानबीन करके ही अपनी संतान का संबंध करते हैं। नीति में भी कहा है—

समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।

अर्थात् जिनका शील-आचार और आदतें समान होती हैं, उन्हीं में मित्रता होती है और उन्हीं की मित्रता निभती है।

सगाई-संबंध करते समय एक बात महत्त्वपूर्ण और ध्यान में रखने योग्य है। आजकल जाति के आधार पर विवाह-संबंध होता है। जब दोनों संबंधी अर्थात् वरपक्ष और कन्यापक्ष एक ही धर्म के अनुयायी होते हैं, तब तो कोई गड़बड़ी नहीं होती, परन्तु कभी-कभी ऐसे प्रसंग भी आजाते हैं जब कि दोनों अलग-अलग धर्मों के अनुयायी होते हैं। उस समय कन्या विधर्मी कुल में जाती है तो बड़ी विषम स्थिति में पड़ जाती है। सासू आदि की ओर से उस पर अपना धर्म बदलने के लिए जोर डाला जाता है। तब कन्या क्या करे? सासू का कहना न माने तो मुसीबत होती है और बिना इच्छा धर्म-परिवर्त्तन करना आत्मा को बेचना है! यह ठीक है कि गृहस्थी में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार धर्म का पालन करने की स्वाधीनता होनी चाहिए और कई परिवारों में ऐसी स्वाधीनता होती भी है, मगर प्रायः ऐसा नहीं देखा जाता। उस हालत में प्राय. कन्या का जीवन दूभर हो जाता है। इस परिस्थिति से बचने के लिए कई विद्वानों का यह कथन है कि साधर्मी के साथ ही विवाह-संबंध होना उचित है। विधर्मी परिवारों में विवाह-संबंध अकसर प्रीतिकर नहीं होता।

इस संबंध में एक सूचना और दे देना उपयोगी होगा। आजकल के बहुत से युवक स्वच्छन्द और फैशनेबुल होते हैं। वे चाहते हैं कि उन्हें ऐसी ही पत्नी मिले जो सिनेमा की अभिनेत्री की तरह चुहलबाज हो। मगर कुलीन कन्या ऐसी नहीं होती। वह लज्जा-

शील, विनीत और संयत स्वभाव वाली होती है। इस विषमता के कारण भी कभी-कभी दम्पती में वैमनस्य हो सकता है। मगर युवक भाइयों को ध्यान रखना चाहिए कि लज्जा आदि नारी-समाज के विशिष्ट सद्गुण हैं। उन गुणों की कद्र की जानी चाहिए। वे यदि स्वयं बन-ठन कर रहना चाहते हैं, होटलों में भोजन करना चाहते हैं तो कम से कम अपनी पत्नी को तो इन बातों की ओर प्रेरित न करें ! और जो स्त्री अपनी कुल-मर्यादा के अनुसार चलना चाहती हो, उसका तिरस्कार न करें।

पहले कहा जा चुका है कि माता-पिता बहुत छानबीन करके ही संबंध करते हैं। मगर फिर भी कभी-कभी विषम संबंध हो ही जाते हैं। संबंध होने से पहले चाहे जितनी जाँच-पड़ताल कर ली जाय, मगर संबंध हो जाने के बाद पति और पत्नी दोनों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे एक दूसरे को सम्पूर्ण भाव से अपनाएँ, कितनी ही विषमता क्यों न हो फिर भी निभाने की उदारता रक्खें और एक दूसरे की अयोग्यता और त्रुटियों को अपनी अयोग्यता और त्रुटि समझकर उसे दूर करने का प्रयत्न करें। संबंध हो जाने के पश्चात् दोनों के बीच किसी प्रकार का वैमनस्य नहीं होना चाहिए। औरस सन्तान अगर खराब हो जाती है तो कोई उसका परित्याग नहीं कर देता। इसी प्रकार कदाचित् अयोग्य कन्या के साथ संबंध हो गया हो तो उसे भी प्रीतिपूर्वक अपना कर योग्य बना लेना ही समुचित मार्ग है। भारतीय संस्कृति में बहुत प्राचीन काल से यह उदारता चली आ रही है और इस उदारता की बदौलत कुटुम्ब में सुख और शान्ति का वास रहता है।

कन्या विक्रय करना घोर कलंक की बात है। अगर कोई

निर्धन है और कन्या को दहेज नहीं दे सकता तो कोई बुराई की चीज नहीं है। मगर कन्या के रुपये लेना तो हद दर्जे की नीचता है। मगर आज कल यह रिवाज भी चल रहा है। इस सम्बन्ध में कहा है:—

चाहे सो ले लो सौदा है बीच बजार में ॥ टेर ॥

मालिन बेचे मोर मोगरी, और बेचे चन्दलाई ।

बराबरी की बेटी बेचूं, सुनजो लोग–लुगाई ॥ १ ॥

कितनी निर्लज्जता है! कैसी बेहयाई है! अपनी लड़की को बेचना श्रावक के लिए तो क्या, साधारण विवेक वाले गृहस्थ के के लिए भी कलंक की बात है। अच्छा, आपमें से कौन–कौन कन्या बेचना चाहते है? जरा हाथ ऊंचा कीजिए तो सही!

(श्रोता हँस पड़ते हैं)

अरे भाइयो! किसलिए दाँत निकाल रहे हो? लेने के लिए या न लेने के लिए?

(श्रोता–नहीं लेने के लिए महाराज!)

अच्छा तो लो प्रतिज्ञा!

(श्रोता हाथ ऊंचा करके कन्या विक्रय न करने की प्रतिज्ञा लेते हैं)

अरी बहिनो! तुम ले लोगी तो?

(बहिनें भी हाथ ऊंचा करती हैं।)

याद रखना, अभी तो हाथ ऊंचा कर दिया है, जीवन भर इस प्रण का पालन करना होगा। दूसरे गाँव में जाकर कन्या देकर रुपये मत ले आना।

भाइयो ! कन्याविक्रय को तो आपने भी बुरा समझ लिया, लेकिन वरविक्रय क्या अच्छा है ? इतना टीका दोगे तो शादी करेंगे, इस प्रकार सौदा तय करना क्या वरविक्रय नहीं है ? और क्या यह अच्छा रिवाज है ? लड़की अच्छी पुण्यवती है, पढ़ी-लिखी है, फिरभी कहते हो कि इतना टीका लेंगे। कम से कम इतना तो करना कि खींचकर मत लेना। लड़की वाला जो खुशी से दे उसी में सन्तोष करना और पहले से ठहराव मत करना।

कन्याविक्रय और वरविक्रय के कारण समाज में अनेक अनर्थ होते हैं। जहाँ यह बुराइयां होती हैं वहाँ वर-कन्या के गुणों और अवगुणों पर विचार नहीं किया जाता, सिर्फ पैसे पर निगाह रक्खी जाती है। लड़की किस-किस को नहीं देनी चाहिए, इस विषय में कहा है:—

क्रोधी नर ने सुता न देनी, घर में जंग मचावे रे।
दुर्व्यसनी नहीं माने घर को माल उड़ावे रे॥ १ ॥

जिसको बात-बात में क्रोध आता हो उसको कन्या नहीं देनी चाहिए। क्योंकि ज्यों ही लड़के को क्रोध आ जायगा, लड़की की टांग तोड़ देगा या तेल छिड़क कर उसे जला देगा। लड़की को दीक्षा दिला देना अच्छा है, पर क्रोधी के मत्थे कभी नहीं मढ़नी

चाहिए। कई जगह सुना है-लड़की की टांग तोड़ दी या माथा फोड़ दिया। इस लिए दुष्ट निर्दय को मत देना। अरे ! बाद में रोने से तो पहले ही रो लो। मालूम न हो तो पड़ौसी से पूछ लो। क्रोधी को दोगे तो हमेशा झगड़ा चलेगा।

दूसरे, दुर्व्यसनी को-रंडीबाज और जुआखोर को लड़की देना उचित नहीं है। जो शराबी हो, बीड़ी पीता हो उसे भी मत देना। ऐसे के गले मढ़ दी तो लड़की की जिन्दगी बर्बाद हो जायगी।

यहाँ कोई दुर्व्यसनी होगा तो कहेगा कि महाराज हमारे ऊपर तलवार चला रहे है। मगर यह कथन तो उसके लिए नसीहत है। नसीहत न माने और हम पर उलटा खफा हो तो हमारा क्या लेगा ? और खुश होगा तो हमें उससे क्या लेना है ? नाराज हो जायगा तो हमें किसी मुकदमे मे सफारिश थोड़े ही करानी है !

जिसके घर का आचरण ठीक न हो, उसके यहाँ भी लडकी मत दो। निर्धन को लड़की दे देने में हानि नहीं; मगर धनवान् दुर्व्यसनी को देने में हानि है। वह किसी वक्त भी अपने धन को उड़ा देगा और दीवाला निकाल कर बैठ जायगा। और किसे नहीं देना चाहिए.—

तस्कर दुष्ट रुष्ट निर्लज्ज निर्दयी को नहीं दीजे रे।
पागल और अवारा से भी बचतो रहीजे रे ॥ २ ॥

चोर को छोकरी मत देना; क्योंकि वह तो सेन्ट्रल जेल का मेहमान बनेगा और छोकरी को पीछे रोना पड़ेगा ! उस दुष्ट को भी मत देना जिसे ईश्वर से प्रेम न हो। क्योंकि जो धर्म और ईश्वर

को नहीं मानेगा वह दुष्कृत्य किये विना नहीं रहेगा । रुष्ट होने वाले से भी दूर रहना; जो वात-वात मे मुंह चढ़ा ले और कहे कि 'जाओ हम रोटी नहीं खाएँगे, हम कुआ या नदी में डूब कर प्राण दे देंगे ।' ऐसे को देने से लड़की परेशान हो जायगी ।

एक आदमी ने ऐसी ही जगह अपनी लडकी का संबन्ध कर दिया । उसका पति बड़ा तुनुकमिजाजी था । जब वह भोजन करने बैठा तो देखता है कि एक चुहिया वार-वार आती है और अनाज खा-खा कर चली जाती है । यह देख उसे बड़ा गुस्सा आया । वह बड़बड़ाया-मेरी आँखो के सामने ही चोरी करती है ! इतनी हिमाकत ! और उसने लकडी उठाकर ऐसी मारी कि चुहिया मर गई । चुहिया मरी देख कर वह बोला-मार लिया मार लिया !

उसकी स्त्री बोली-चुहिया मार कर इतना अभिमान करते हो जैसे शेर मार लिया हो !

स्त्री की इतनी-सी वात सुन कर वह बोला-जाओ- मैं रोटी नहीं खाऊँगा । वह नाराज होकर बैठक मे चला गया । लड़की का मायका उसी गाँव मे था । मालूम होने पर लड़की की माँ आई और उसने सारा हाल मालूम किया । फिर लड़की से कहा-देख, मैं जो प्रश्न करूंगी उसका उत्तर तू इस प्रकार देना ! और उसने उत्तर लड़की को सिखा दिये । माँ घर जा कर दोवारा आई । उसने प्रश्न किया:- 'लंबी पूछ छोटी-सी गर्दन, यह शेर का गेंद किसने गिराया ?' तब लड़की बोली-'करना तो परवरदिगार का है लेकिन यश मिलता है इस घर के मालिक को ! बस इतना सुनते

हो वह आदमी खुश हो गया और फिर उसने भोजन कर लिया।

यह तो उदाहरण है। ऐसे स्वभाव वाले लड़के का भी खयाल रखना चाहिए। और जिसकी आँखो मे शर्म न हो, जो निर्लज्ज हो, उसे भी लड़की देना हितकर नही। जिसके घटमें दया न हो उसे भी लड़की नहीं देनीं चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि फिर लड़की देनी कहाँ चाहिए? सुनियेः—

विद्या बल निरोग और जो होवे बहु परिवारी रे।
चौथमल कहे सुता दिया पावे सुख भारी रे॥ ३॥

भाइयो! जो लड़का पढ़ा-लिखा हो, शरीर से नीरोग हो, बलवान् हो, कुटुम्ब परिवार वाला हो, उसी को अगर कन्या दी जाय तो वह सुखी होती है।

हाँ, तो मेरे कहने का आशय यह था कि जिस घरमें निकृष्ट आचार हो और चिकने कर्म बांधने के काम होते हों, उस घर में कन्या को भी नहीं देना चाहिए। स्वयं ऐसे कर्मों से बचो और अपनी सन्तान को भी बचाओ। ऐसे कर्म बंधने के कारणभूत कुछ कार्यों का उल्लेख मैंने किया था। इसी प्रकार के और भी कार्य हैं। यथा—

शस्त्र से सिर फोड़ने, जो मारे दया विसार॥

किसी का सिर फोड़ देना, हाथ पैर आदि अवयव काट देना या तोड़ देना, और सामने से गाय, बैल आदि कोई पशु अथवा मनुष्य आता हो तो उसे किसी शस्त्र से अथवा लाठी आदि से

पीटना भी इसी प्रकार का कार्य है। इससे भी चिकने कर्मों का बन्ध होता है और आगे धर्म की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है।

दोष छिपावे आपनो, फिर मिश्र वचन उच्चार।

पहले बुरा काम करना और फिर उसे छिपाना या दूसरे का नाम लगा देना—अपने कुकर्म को दूसरों के मत्थे मढ़ देना, या ऐसी गोलमोल भाषा का प्रयोग करना जिससे पता चले कि यह निर्दोष है। यह भी ऐसा ही कुकर्म है।

शील धर्म पाले नहीं, कहे ब्रह्मचारी संसार।

बहुतेरे मनुष्य संसार मे ऐसे भी मिलेंगे जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते हैं, फिरभी अपने आप को ब्रह्मचारी के रूप में प्रकट करते हैं। कई ऐसे होते हैं जो ब्रह्मचारी तो नहीं होते, मगर लोग उन्हें ब्रह्मचारी कहते हैं तो वे कहने वालों को मना नहीं करते; मौन हो रहते हैं, जिससे संसार उन्हें ब्रह्मचारी समझने लगता है। इस प्रकार ब्रह्मचारी न होते हुए भी अपने को ब्रह्मचारी कहना घोर झूठ है तो चुप्पी साध लेना भयंकर कपट है। यह झूठ और कपट मनुष्य के जीवनको नीचे गिराता है, ऊपर नही उठाता अतएव अगर आप पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं तो बड़े ही भाग्यशाली हैं। आप अपने इहलोक को भी सुधारते हैं और परलोक को भी सुधारते हैं। अगर आपका चित्त वश में नहीं हो सका है और आप स्वपत्नी सन्तोष धारण करते हैं तो भी अच्छी बात है। यह गृहस्थ धर्म भी उन्नति का और कल्याण का मार्ग है। कदाचित आपमे इतना भी नहीं हो सकता तो निश्चित समझ लो कि आप पतन की राह पर चल रहे हैं, पाप के पथ

पर अग्रसर हो रहे हैं। इससे आपका यह जन्म भी बिगड़ने वाला है और वह जन्म भी बिगड़ने वाला है। एक दिन आएगा कि आपकी सारी इज्जत और आवरु धूल में मिल जाएगी, लोग दुराचारी कह कर आपका तिरस्कार करेंगे और घृणा की दृष्टि से देखेंगे। इस प्रकार एक देश से भी शील का पालन न करना पाप है और फिर उस पाप को छिपाना और अपने को शीलव्रती प्रकट करना तो और भी बड़ा पाप है! इस पाप कर्म से भी चिकने कर्मों का बन्ध होता है।

सत्संग से उन्मग करे, और तोड़े धर्म की पार ॥

सत्य-मार्ग, जो दयामयी धर्म है, उसका आचरण न करना, और इतना ही नहीं किन्तु उस मार्ग की निन्दा करके दूसरे का मन उससे हटा देना, सामायिक और प्रभु का भजन करने की निन्दा करना, जो यह धर्म कार्य करता हो उसके मन को फेर देना भी ऐसा ही पाप-कार्य है। ऐसे लोग इस कहावत को चरितार्थ करते हैं:—

आप डुबंते पांडे ले डूबे जजमान,

ऐसा करने वालों को भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

अवगुण बोले संघ का, दे धर्म से भाव उतार ॥

श्री संघ की निन्दा करे-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चारों तीर्थों का अवर्णवाद करे तो भी चिकने कर्म बँधते हैं। शास्त्र में संघ की बड़ी महिमा बतलाई है। संघ महान् है क्योंकि

वह धर्म का आधार है, आश्रय है। संघ के सहारे ही धर्म है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है:—

न धर्मो धार्मिकैर्विना।

अर्थात् धर्मात्मा के अभाव में धर्म भी नहीं ठहरता है। इस प्रकार संघ का बड़ा महत्त्व है। बड़े से बड़े मुनियों को भी संघ का आदेश शिरोधार्य करना पड़ता है। इसी लिए शास्त्र में कहा है कि चतुर्विध संघ का गुणानुवाद करते हुए उत्कृष्ट रसायन आवे तो तीर्थंकर गोत्र का बंध होता है। तो जैसे संघ का गुणानुवाद उत्कृष्ट फलदायक है, वैसे ही संघ की निन्दा निकृष्ट फल देने वाली है। संघ का निन्दक चौरासी के चक्कर में घूमता है और घोर दुःख उठाता है।

धन हरे निज सेठ का, फिर भोगे उसकी नार॥

भाइयो! आजीविका देने वाला सेठ लोक में उपकारी होता है। शास्त्र में भी उसके उपकार का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। मनुष्य का महान् कर्त्तव्य है कि वह अपने जीविका प्रदान करने वाले के प्रति प्रामाणिक रहे, कृतज्ञ रहे और सब प्रकार से उसकी भलाई चाहे। इसके विपरीत जो मनुष्य अपने सेठ का धन अपहरण कर लेता है अथवा उसकी पत्नी के साथ दुराचार का सेवन करता है वह मनुष्य क्या पाप का कीड़ा है। ऐसे विश्वास-घाती को नरक सिवाय और कहाँ स्थान मिल सकता है?

तप संयम कर सुर हुआ, जाकी निन्दा करे गँवार।

कोई दया करके, दान देकर, तपस्या करके, संयम का पालन करके या धर्मध्यान करके स्वर्ग में देवगति को प्राप्त हुआ हो,

मगर उसके विषय में यह कहना कि 'क्या पता है कि वह स्वर्ग में गया है ? क्या उसने स्वर्ग से कोई पत्र भेजा है ? अरे भाई ! स्वर्ग की बातें तो कोरी गप्पें हैं, मूर्खों को बहलाने की बातें हैं। कहाँ पड़ा है स्वर्ग और कहाँ है मोक्ष ! जो कुछ है सब यहीं है। देवता होते तो हमारे पास क्यों न आते ?'

ऐसा कहने वाले बिगड़ी खोपड़ी के लोग अश्रद्धालु हैं और अधार्मिक हैं। ऐसों के पास तो भले आदमी भी नहीं फटकते, देवता क्यों आएँगे ? ऐसे पापियों की भी वही दशा होती है।

मान—प्रतिष्ठा के लिए, जो कपट करे हर बार।
सत्तर कोडाकोडी सागर, वह बांधे मोह करार॥

भाइयो ! जो अपनी महिमा—पूजा के लिए कपट का सेवन करता है और दूसरों को बार-बार धोखा देता है, वह भी चिकने कर्मों का बंध करता है।

चिकने कर्म क्या हैं और रूखे कर्म क्या हैं ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत लम्बा है। विस्तारपूर्वक कहने का समय नहीं है। कर्म-सिद्धान्त को समझे बिना इस प्रश्न का उत्तर पूरी तरह समझ में भी नहीं आ सकता। फिर भी संक्षेप में बतलाने का प्रयत्न किया जाता है।

लोक में सर्वत्र कार्मण वर्गणा के परमाणु भरे हुए हैं। उन परमाणुओं में अपने आप में कोई रूखा-चिकनापन नहीं है। सभी एक जाति के परमाणु हैं। जीव में जब कषाय और योग की परिणति होती है, तब वे परमाणु आत्मा के साथ बद्ध हो जाते

हैं। आत्मा के साथ बंधते समय उनमें से किसी में चिकनापन और किसी में रूखापन उत्पन्न होता है। जीव में अगर कषाय कम हुआ है, तीव्र कषाय के साथ कर्म बाँधे गये हैं तो कर्मों में चिकनापन पैदा हो जाता है। अगर कषाय की परिणति मंद हुई है तो बंधने वाले कर्म रूखे होंगे। इस प्रकार कर्म का चिकनापन और रूखापन जीव के कषाय भाव के आश्रित है।

चिकने और रूखे कर्मों के फल में बड़ा अन्तर होता है। बालू या रेत में रूखापन होता है। वह शरीर के ऊपर डाल दी जाय तो अनायास ही हट जाती है। वह चिपट कर नहीं रहती। इसके विरुद्ध कीचड़ अगर शरीर से लगती है तो वह बालू की अपेक्षा चिकनी होने से अधिक चिपकती है और कुछ कठिनाई से छूटती है। आँखों मे लगाने का काजल कीचड़ से भी ज्यादा चिकना होता है। इस कारण वह और भी कठिनाई से छूटता है। इसी प्रकार जो कर्म जितने ज्यादा चिकने होते हैं, वे उतने ही अधिक समय तक ठहरते हैं और उतनी ही अधिक कठिनाई से छूटते हैं। रूखे कर्म तो थोड़ी ही स्थिति के होते हैं, यहाँ तक कि कोई-कोई रूखे कर्म बँधते ही, बिना ठहरे, अलग हो जाते हैं; मगर चिकने कर्म सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक आत्मा के के साथ लगे रहते हैं।

यह तो कर्मों के आत्मा के साथ चिपके रहने की बात हुई। रूखे और चिकने कर्मों के फल की मंदता और तीव्रता में भी बड़ा भेद होता है। रूखे कर्मों का फल हल्का होता है या कभी-कभी होता ही नहीं है। कोई-कोई बहुत ही रूखे कर्म सिर्फ प्रदेशों से उदय में आकर खिर जाते हैं, उनका अनुभाग-फल नहीं होता है।

मगर चिकने कर्म इस प्रकार नहीं खिरते और उनका फल भी बड़ा भयंकर होता है।

चिकने और रूखे कर्मों में और भी अन्तर है। कर्म सिद्धान्त में बतलाया गया है कि जीव अपने विशिष्ट परिणामो के द्वारा बँधे हुए तीव्र फल वाले कर्मों को अल्प फल वाला बना सकता है और अल्प फल वाले कर्मों को अधिक फल वाला भी बना सकता है। इसी प्रकार किसी एक कर्म की अशुभ प्रकृति को शुभ प्रकृति के रूप मे पलट सकता है और शुभ प्रकृति को अशुभ प्रकृति के रूप मे बदल सकता है। कर्म शास्त्र में इसे प्रकृति-संक्रमण कहते है। यह संक्रमण रूखे कर्मों का होता है। चिकने कर्म एक बार अशुभ रूप में बँधकर फिर शुभ रूप में परिणत नहीं होते। वे जिस रूप में बँधते हैं उसी रूप में भोगने पड़ते हैं।

भाइयो! विचार करो और सद्व्यवहार करो। चिकने कर्म बाँधने से बचो। त्रस जीवों की-चलते-फिरते प्राणियों की हिंसा मत करो। सब प्रकार की हिंसा से बच सको तो उत्तम ही है, अन्यथा गृहस्थ के योग्य अहिंसा का तो अवश्य पालन करो।

जम्बू कुमार की कथा—

जम्बू कुमार अब इसी मार्ग को स्वीकार कर रहे हैं। पहले कहा जा चुका है कि कुमार ने श्री सुधर्मा स्वामी का सदुपदेश सुना और उसका उनके चित्त पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह माता-पिता से संयम ग्रहण की आज्ञा लेने के लिए अपने घर की ओर रवाना हुए। किन्तु रास्ते में एक घटना हो गई। उस घटना ने

उन्हें फिर प्रभावित किया और वे फिर श्रीसुधर्मा स्वामी की तरफ चल दिये।

बात यों हुई। जम्बूकुमार जब अपने घर की तरफ लौटे और नगर के दरवाजे में घुसे तो यकायक तोप का एक जोरदार धड़ाका हुआ। उस धड़ाके से कोट का एक कंगूरा टूट गया और जम्बूकुमार के पास ही गिरा। एक बड़ा सा पत्थर उनके पैरों के बीच में होकर निकल गया। भाग्य से जम्बूकुमार बाल-बाल बचे।

सुधर्मा स्वामी ने मानव जीवन की दुर्लभता और नश्वरता का जो वर्णन अपने उपदेश में किया था, उसकी सचाई का प्रत्यक्ष प्रमाण जम्बूकुमार के सामने उपस्थित हो गया। इस घटना ने उनके विचारों में उत्तेजना, उग्रता और दृढ़ता उत्पन्न कर दी। उन्होंने विचार किया-प्रगाढ़ आयुकर्म के बंध के कारण मैं इस दुर्घटना से बच गया हूँ। नहीं तो मृत्यु होने में क्या बड़ी कसर रह गई थी? वास्तव में एक एक समय बहुत मूल्यवान् है। कौन जानता है कि किस क्षण मृत्यु आ जाय! अगर इस समय में ही मृत्यु हो जाती तो असंयत अवस्था में ही मुझे परलोक गमन करना पड़ता। यद्यपि मैं संयम धारण करने का निश्चय कर चुका हूँ, मगर उसमें कुछ समय तो लग ही जायगा। मेरे स्नेहशील माता-पिता जल्दी आज्ञा देने वाले नहीं। फिर मैं इस समय एक विशेष परिस्थिति में हूँ। विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं। उससे छुटकारा पाना है। तब तक के लिए भी जीवन पर कैसे विश्वास किया जा सकता है? ऐसी दशा में श्रेयस्कर यही है कि मैं फिर सुधर्मा स्वामी के समीप जाऊँ और गृहस्थधर्म धारण करूँ।

इस प्रकार विचार कर जम्बूकुमार नगर के दरवाजे से फिर

वापिस लौट पड़े और फिर सुधर्मा स्वामी की सेवा में पहुंचे। वहाँ पहुंच कर उन्होंने निम्नलिखित गृहस्थधर्म की प्रतिज्ञाएँ लीं:—

(१) मैं किसी भी निरपराध, त्रस जीव की, संकल्पपूर्वक हिंसा न करूंगा।

(२) धरोहर आदि के विषय में स्थूल असत्य भाषण नहीं करूँगा और परपीड़ाजनक सत्य भी नहीं बोलूंगा; जैसे अँधे को अंधा कहना, चोर को चोर कहना।

(३) मैं राज्य-दण्डनीय और लोक निन्दनीय स्थूल चोरी नहीं करूँगा।

(४) चौथे व्रत में यद्यपि अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त संसार की समस्त स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री के समान समझने की प्रतिज्ञा ली जाती है, मगर मैं आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा लेता हूँ।

(५) मैं अमुक मर्यादा तक ही परिग्रह रक्खूंगा— मर्यादा से ज्यादा नहीं।

इन पाँच मूल व्रतों के अतिरिक्त (१) दसों दिशाओं में जाने की मर्यादा करना। (२) दिशाओं की मर्यादा को भी प्रतिदिन कम करना (३) निरर्थक पापों का त्याग करना (४) प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल सामायिक करना (५) अष्टमी, चतुर्दशी पूर्णिमा और अमावस्या के दिन सब प्रकार का आरंभ त्याग कर पौषध करना (६) भोगोपभोग की सामग्री की मर्यादा करना और (७) घर पर आये हुए उत्कृष्ट, मध्यम तथा जघन्य पात्र

को यथोचित आहार आदि देना । इन सात उत्तर गुणों को भी मैं ग्रहण करता हूँ । इस प्रकार गृहस्थ के बारह व्रतों को स्वीकार करता हूँ । कहा है:—

सूरा चढ़ संग्राम में, फिर पीछे मत जोय ।
उतर पड़े मैदान में, होनी होय सो होय ॥

भाइयो ! शूरवीर पुरुष की यह प्रकृति होती है । वह अपने शुभ निश्चय से नहीं डिगता । जम्बूकुमार ऐसे ही शूरवीर पुरुष थे । उन्होंने गृहस्थ धर्म को धारण किया और फिर वहाँ से चल कर अपने घर आये । घर पहुंच कर माता के पास पहुँचे । माता को प्रणाम करके बोले.—माँ, सुधर्मा स्वामी का उपदेश सुन कर जब मैं आ रहा था तो दरवाजा गिर पड़ा । संयोगवश ही मेरे प्राण बच गये, अन्यथा मैं आपके पास तक पहुँच ही न पाता ।

माता अपने पुत्र के संकट की बात सुनकर काँप उठी । उसने जम्बूकुमार को छाती से लगा लिया । फिर बोली—बेटा ! तुम धर्म-कार्य के लिए गये थे, अतः तुम्हारा संकट टल गया ।

जम्बू कुमार ने कहा—मां, एक बात कहनी है । मैंने भगवान् सुधर्मा स्वामी की वाणी सुनी है । मुझे संसार असार लगने लगा है । मैं एकान्त भाव से धर्म की आराधना करना चाहता हूँ । मुझे आपकी आज्ञा चाहिए । सुधर्मा स्वामी ने आज मेरी आँखें खोल दी हैं । उन्होंने बतलाया है कि यह शरीर कायम रहने वाला नहीं है । धन और यौवन भी अस्थिर है । इनके जाते देर नहीं लगती । यह तो संध्याकाल की लालिमा के समान है ।

अभी हैं और अभी-अभी ग़ायब हो जाते हैं ! ऐसी स्थिति में भविष्य पर भरोसा न रख कर शीघ्र से शीघ्र आत्म कल्याण की साधना मे जुट जाना ही योग्य है। माताजी ! मैं चाहता हूं कि शीघ्र ही उस साधनो में लग जाऊं और निरंजन-निष्कलंक पद पाऊं !

भाइयो ! जम्बूकुमार इस प्रकार कह कर माता से आज्ञा मॉंग रहे हैं। उन्हें संसार के सभी सुख और सुख की सामग्री प्राप्त है। विवाह की धूमधाम है। दूल्हा के वेष में हैं। फिर भी उनके हृदय पर वैराग्य का गहरा रंग चढ़ा है ! यह कोई साधारण बात नहीं है। महान् पुण्य के योग से ही ऐसे ही ऐसे पवित्र और उच्च संकल्प जागते हैं। भाइयो ! आपको भी यह मनुष्य-जन्म बार-बार कहाँ मिलेगा ? अतः कुछ न कुछ लाभ इससे उठा लो। साधुधर्म और गृहस्थधर्म के रास्ते आपके सामने खुले हैं। आप अपनी शक्ति के अनुसार जिस रास्ते पर चलना चाहते हो, चल सकते हैं और अपना कल्याण कर सकते हैं। आप ऐसा करेंगे तो आनन्द ही आनन्द होगा।

जोधपुर,
ता० २०-८-४८

भगवद्-वाणी

(सत्य की महिमा)

॥ स्तुति ॥

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः,
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याम् ।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व-
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम भगवान, आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? कहां तक आपके गुणों का वर्णन किया जाय !

भगवान् जब समवसरण में विराजमान होते थे तब उनके मुख-चन्द्र से दिव्यध्वनि का पीयूष-प्रवाह बरसता था। भगवान् की वाणी स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) के स्वरूप को बतलाती

थी और उनके उपायों पर भी बहुत सुन्दर रूप से प्रकाश डालती थी। भगवान् की दिव्यध्वनि सच्चे धर्म का मर्म प्रकट करने मे इतनी समर्थ थी कि तीर्थंकर को छोड कर और किसी मे उतना सामर्थ्य नहीं। भगवान् की वाणी अद्वितीय थी, असाधारण थी। उस वाणी की अद्भुत विशेषता यह भी थी कि किसी भी देश का और किसी भी भाषा का जानकार क्यों न हो, सभी उसे आसानी से, समान रूप से, समझ जाते थे। यह नहीं कि भगवान् की वाणी सुने और कह सके कि वह हमारी समझ मे नहीं आई।

लोकोत्तर प्रकाश के अपरिमित पुञ्ज भगवान् आदिनाथ की वाणी उस युग मे खिरी थी जब इस भूतल पर धर्म की कल्पना तक किसी को नहीं थी। पहले कहा जा चुका है कि भगवान् के युग में ही भारतवर्ष में कर्मभूमि की प्रतिष्ठा हुई थी। तभी सामाजिक व्यवस्थाएँ कायम हुई थी और तभी राजनीति का जन्म हुआ था। जैसे इन सब व्यवस्थाओं के आद्य प्रणेता भगवान् आदिनाथ थे, उसी प्रकार धर्मनीति के प्रथम प्रवर्त्तक भी वही थे। भगवान् ने एक लम्बे अर्से तक कठिन तपस्या की। उस तपस्या के फलस्वरूप उनकी आत्मा परिपूर्ण प्रकाश से प्रकाशमान हो उठी। एक अखण्ड, अविकल और अलौकिक ज्योति उनमें प्रकट हुई। उसे जैनागमों में केवलज्ञान कहते हैं। केवलज्ञान के प्रकाश में प्रभु ने अखिल विश्व को अपनी हथेली की भांति स्पष्ट देख लिया। लोक और अलोक, जड और चेतन, सूक्ष्म और स्थूल, दूरवर्त्ती और समीपवर्त्ती-सभी पदार्थ उनके ज्ञान में झलकने लगे। अब कोई वस्तु ऐसी नहीं थी जिसे भगवान् न जानते हों।

संक्षेप में कह सकते हैं कि भगवान् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुए। उनकी आत्मा पूर्ण रूप से वीतराग और फलतः निर्मल हो गई। तब उन्होंने जगत् के जीवों के कल्याण के लिए, उन्हें आत्म-कल्याण का प्रशस्त और समीचीन मार्ग बतलाने के लिए धर्मोपदेश देना आरंभ किया। भगवान् की सुधामयी वाणी को श्रवण करने के लिए सभी श्रेणियों के मनुष्य तो आते ही थे, सब प्रकार के देवता और यहां तक कि पशु भी समवसरण में उपस्थित होते थे। कहां मनुष्यों की भाषा और कहां तिर्यंचों की भाषा ! कितना अन्तर ? मगर भगवान् की वाणी का अतिशय तो देखिए कि सब सुनने वाले ऐसा अनुभव करते थे, मानो भगवान हमारी भाषा में उपदेश कर रहे हैं।

यह तो भगवान् की वाणी की भाषा संबन्धी विशेषता है। उनकी वाणी की सब से बड़ी और महत्त्वपूर्ण विशेषता अर्थ संबंधी है। भगवान् ने अपने निर्मल ज्ञान में समस्त तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप जाना था, अतएव उनकी वाणी के द्वारा तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप ही प्रकट हुआ। उन्होंने छह द्रव्यों का तथा नौ तत्त्वों का ठीक-ठीक स्वरूप संसार के सामने रक्खा। साथ ही धर्म का असली स्वरूप बतलाकर भव्य जीवों को मोक्षमार्ग पर आरूढ़ किया।

इस प्रकार विचार करने पर विदित होता है कि भगवान् सर्वांश में हमारे आत्मिक-उपकारक थे। भगवान् की महिमा का बखान करने की किसी में शक्ति नहीं है। भाषा भी पर्याप्त नहीं है। प्रभु की वाणी सब के लिए हितकारी और सुखकारी थी। सभी तीर्थंकरों की वाणी ऐसी ही होती है। वह वाणी अनन्त

संसार-सागर मे डूबने वालो के लिए नौका के समान है। मिथ्यात्व और अज्ञान के गहरे अन्धकार में भटकने और ठोकरें खाने वालों के लिए प्रकाश के समान है। वही मुमुक्षुजनों का सहारा है। आत्म-कल्याण की अभिलाषा रखने वालों के लिए अवलम्बन है। उस वाणी का अवलम्बन करके असंख्य भव्य जीव अपना कल्याण-साधन कर चुके हैं। वर्तमान काल में उसी का सहारा लेकर अनेक मुमुक्षु अपना मार्ग सकुशल तय कर रहे है और अनन्त भविष्य मे, जब कभी किसी की आत्मा का कल्याण होगा, उसी पवित्रतम वाणी की बदौलत होगा।

भगवान् की वाणी सत्य है, तथ्य है, पथ्य है, उपकारक है और मंगलमय मार्ग का निर्देश करने वाली है। आचारांग सूत्र में कहा है:—

तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

अर्थात्-वीतराग पुरुषों की वाणी के द्वारा जो तत्त्व प्रकट हुआ है, वही सत्य है और वही असंदिग्ध है। उसमे किसी भी प्रकार के संशय के लिए अवकाश नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ और वीतराग पुरुषो के वचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकते। वह वाणी यों ही अंदाज से नहीं बोली गई है, वरन् चिरकालीन साधना के परिपाक का फल है। तीर्थंकर जब तक पूर्णता नहीं प्राप्त कर लेते तब तक वे उपदेश देने मे प्रवृत्त नहीं होते। पूर्णता प्राप्त होने पर, वीतराग भाव से, समस्त प्रकार की कामनाओं से अतीत होकर भी केवल तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से उपदेश देते हैं और तीर्थ की स्थापना करते हैं।

छद्मस्थों के अपूर्ण ज्ञान में विविधता भी होती है और विरुद्धता भी पाई जा सकती है, परन्तु केवल ज्ञानियों का ज्ञान एक रूप ही होता है। अतएव एक तीर्थंकर के ज्ञान मे जैसा वस्तु-स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है, वैसा ही सभी तीर्थंकरों के ज्ञान में झलकता है। भगवान् ऋषभदेव ने जैसा वस्तुतत्त्व जाना और उपदेश दिया था वैसा ही अन्य तीर्थंकरो ने भी जाना और उपदेश दिया है। यह उपदेश आज भी शास्त्रो मे मौजूद है। कल बतलाया गया था कि बारह अंग भगवान् की वाणी हैं। उनमें से बारहवाँ अंग आज मौजूद नहीं है, सिर्फ ग्यारह अंग मौजूद हैं। इन अंगो में से थोड़ा-थोड़ा ज्ञान अलग करके बारह उपांग बनाये गये हैं और वे भी आजकल उपलब्ध हैं। उववाईजी, रायपसेणीजी, जीवाभिगमजी, पन्नवणाजी, जंबूद्वीपपण्णत्तिजी, चंदपण्णत्तिजी, सूरपण्णत्तिजी, निरयावलियाजी, कप्पवडंसियाजी, पुप्फियाजी, पुप्फचूलियाजी, और वण्हिदशाजी-यह बारह उपांग हैं। आचार्य महाराजों ने अध्ययन करने वालों की सुविधा का विचार करके इनका पृथक् निर्माण किया है।

उपांगो के अतिरिक्त चार मूल और चार छेद शास्त्र भी हैं। चार मूल शास्त्रों के नाम है-नन्दी, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन। छेदसूत्र धर्म के कानून शास्त्र हैं। उन्हें ताजीरात हिन्द के समान समझ लीजिए। उनके नाम हैं-निशीथ सूत्र, बृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध।

निशीथसूत्र मे बतलाया गया है कि साधु ने जानबूझ कर अथवा अनजान मे हरी-वनस्पति पर पैर रख दिया हो, सचित्त पानी छू लिया हो या किसी माई के कपड़े का भी स्पर्श हो गया

हो तो शाम को प्रतिक्रमण करके आलोचना करनी चाहिए और उचित प्रायश्चित्त लेना चाहिए। इनके अतिरिक्त और भी कोई ऐसा कार्य हो जाय जो साधुओं के लिए निषिद्ध है तो उसका भी प्रायश्चित बतलाया गया है। इस प्रकार निशीथ सूत्र में दण्डविधान का निरूपण है।

व्यवहार सूत्र में यह बतलाया गया है कि आचार्य, उपाध्याय प्रवर्त्तक, गणावच्छेदक आदि पदवियाँ कैसे मुनियों को दी जानी चाहिए। अर्थात कौन-कौन से गुण वालों को कौन-कौन सी पदवी दी जानी चाहिए। आचार्य के लिए उसमें बतलाया है कि वह लंगोट का सच्चा हो। जिस मुनि के चौथे महाव्रत में एक वार भी दोष न लगा हो, वही आचार्य पदवी के योग्य होता है। जिसे एक वार भी यह दोष लग गया हो उसे उम्र भर आचार्य पदवी नहीं आती। अगर दूषित होते हुए भी वह आचार्य की गादी पर बैठ जायगा तो वह या तो अंधा हो जायगा या लंगड़ा हो जायगा। कदाचित् ऐसा न हुआ तो वह पाप का भागी तो होगा ही।

आचार्य की गादी भगवान महावीर की गादी है। वह महान् त्यागियों की गादी है। भगवान् महावीर ने साधुता का जो उन्नत आदर्श उपस्थित किया है, उसके संरक्षण के लिए ही इस गादी की परम्परा चली है। उस आदर्श की रक्षा वही कर सकता है जिसका आचरण शुद्ध हो, शास्त्रों के अनुकूल हो। किसी गैरे-नैरे, मजड़े-कंजड़े, को आचार्य नहीं बनाना चाहिए। जिसका आचार पूरी तरह शुद्ध है और जो भगवान की गादी की प्रतिष्ठा को कायम रख सकता है, वह चाहे बहुत काल का दीक्षित साधु हो या थोड़े काल का, उसी को आचार्य बनाना योग्य है।

आचार्य साधु-संघ का नायक है। जैसे सेना की जय-पराजय का आधार सेनापति की शूरता, वीरता, रणकुशलता आदि सद्-गुणों पर निर्भर है, उसी प्रकार श्रमणसंघ की आध्यात्मिक विजय का प्रधान आधार आचार्य की संयमनिष्ठा और व्यवहार कुशलता पर है। अतएव संघ का नायक-आचार्य बहुत योग्य होना चाहिए। आचार्य स्वयं अत्यन्त सावधानी के साथ संयम का पालन करेगा। आचार की छोटी से छोटी बात का भी ध्यान रक्खेगा, क्रियाओं के अनुष्ठान में उपेक्षा या प्रमाद नहीं करेगा, शास्त्रीय पद्धति से ही सम्पूर्ण आचार का निरन्तर पालन करता रहेगा और किसी प्रकार का दोष न लगने देने की सावधानी रक्खेगा तो उसकी अधीनता में रहने वाला साधुसंघ भी इन सब बातों से सावधान रहेगा। कदाचित कोई साधु शास्त्रविरुद्ध आचरण करेगा भी तो आचार्य उसे उपालंभ दे सकेगा और यथोचित प्रायश्चित्त देकर शुद्ध कर सकेगा। इसके विपरीत अगर आचार्य स्वयं आचार में शिथिल हुआ तो उसका अनुकरण करके दूसरे साधु भी शिथिलता का सेवन करेंगे और आचार्य उन्हें उपालंभ और प्रायश्चित्त भी नहीं दे सकेगा। उसके दोष उसके प्रभाव को, तेज को क्षीण कर देंगे। परिणाम यह आएगा कि साधुसंघ में सर्वत्र शिथिलता व्याप्त हो जायगी, स्वच्छन्दता फैल जायगी।

इस शिथिलता और स्वच्छन्दता से साधु-संघ का पतन तो होगा ही, सम्पूर्ण संघ पर—चतुर्विध संघ पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। प्रत्येक आचार्य और साधु को सदैव याद रखना चाहिए, एक क्षण के लिए भी यह बात नहीं भूलना चाहिए कि वह सर्वज्ञ वीतराग के धर्म का प्रतिनिधित्व करता है। जनसाधारण उसके

व्यवहार और आचरण को देख-देख कर ही धर्म के विषय में अपनी सम्मति कायम करते हैं। इस प्रकार धर्म को दिपाना या मलिन करना मुख्य रूप से साधुओं के व्यवहार पर अवलंबित है। यह बात याद रख कर साधुओं को अपने आचरण की पवित्रता की ओर ध्यान देना चाहिए और आचार्य को तो खास तौर पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

जो आचार्य स्वयं शास्त्रानुसार आचरण करेगा और अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेगा, उसमें एक प्रकार का तेज आ जायगा। प्रत्येक साधु उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करेगा। किसी में यह साहस ही न होगा कि वह आज्ञा का उल्लंघन करे या आदेश की उपेक्षा करे। इसके विरुद्ध अगर आचार्य में ही दोष होगा तो सारा संघ दूषित हो जायगा। आचार्य में अपने दोषों की बदौलत ऐसी दुर्बलता आजायगी कि वह संघ के दोषों का परिमार्जन नहीं कर सकेगा। कदाचित किसी साधु को उपालंभ देगा तो साधु उससे कहेगा-महाराज! जरा आप स्वयं अपनी ओर देखिए!

इस प्रकार अचार्य तथा साधु के नियम आदि का वर्णन व्यवहारसूत्र में किया गया है।

दशाश्रुतस्कंध में भी आचार का वर्णन है।

बत्तीसवां शास्त्र आवश्यकसूत्र है। उसमें साधु के लिए प्रातः काल और सायंकाल अनिवार्य रूप से प्रतिक्रमण आदि छह आवश्यक करने का विधान है। यह बत्तीस शास्त्र माने जाते हैं। किसी-किसी के विचार में पैंतालीस आगम हैं और कोई-कोई

८४ आगम भी बतलाते हैं। लेकिन हमारा कहना यह है कि चाहे दस हजार आगम हों, तो भी मत उन्हें मानने को तैयार हैं, शर्त यही है कि उनसे मूल आगमों से विरुद्ध कोई बात नहीं होनी चाहिए। कोई भी पुस्तक क्यों न हो, अगर वह सत्य से विपरीत नहीं है, तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा से विरुद्ध नहीं है, तो उसे प्रमाणभूत मानने में किसी को ऐतराज नहीं हो सकता।

आवश्यकसूत्र भी भगवान् की ही वाणी है। इसमें धर्म दो प्रकार के बतलाये हैं-साधुधर्म और गृहस्थ धर्म। संसार-सागर से तिरने की यह दो ही श्रेणियाँ हैं। आपकी तैयारी हो तो साधु-धर्म के जहाज में बैठ जाओ। अगर जीवन इतना विकसित न हो पाया हो और इन्द्रियों पर पूरी तरह काबू पाने की योग्यता न आई हो तो साधु-धर्म से छोटा एक गृहस्थ धर्म का जहाज भी है। आप उसी पर सवार हो सकते हैं। गृहस्थ धर्म भी कोई मामूली चीज नहीं है वह भी जबर्दस्त है। गृहस्थ धर्म का पहला नियम यह है कि किसी हिलते-चलते, निरपराध प्राणी की हिंसा मत करो। सब प्राणियों के प्रति दया का भाव रक्खो। जिसके हृदय में दया होगी वही दूसरे व्रतों और नियमों का पालन कर सकेगा। जिसका हृदय दयाहीन है वह दूसरे धर्मों का क्या खाक पालन करेगा? इसी कारण क्या साधु और क्या गृहस्थ-सभी के लिए अहिंसा को पहला व्रत बतलाया है। संसार के सभी धर्मों ने अहिंसा की प्रशंसा की है और उसे धर्मक्रियाओं में प्रधान स्थान दिया है।

भाइयो! किसी भी जीव को तकलीफ न पहुँचाना सब से उत्तम धर्म है। देखो, जय विद्याधर अपनी विद्या के जरिये

आकाश में चलता है तो जब तक वह नीति-मार्ग पर होता है तब तक उसका विमान चलता है, अन्यथा रुक जाता है। सारी विद्याएं अहिंसा धर्म के बल पर उत्तम काम करती है। यहां तक कि केवल ज्ञान और मोक्ष भी अहिंसा के प्रताप से मिलता है। अहिंसा धर्म बड़ा व्यापक है। लोकोत्तर सफलता के लिए तो उसकी अनिवार्य आवश्यकता है ही, दुनियावी काम के लिए उसे अपनाया जाय तो भी सफलता मिलती है! इस सचाई का प्रत्यक्ष सबूत हम लोगो के सामने मौजूद है। देखो न, गांधीजी ने देश की भलाई के लिए अहिंसा को अपनाया तो अहिंसा ने अपना फल दे दिया। भारत स्वतंत्र हो गया॥

अगर आध्यात्मिक उन्नति के लिए अहिंसा का आश्रय लिया जाय तो आगे उसका फल मिलता है। अहिंसा कल्पवृक्ष है। इससे जैसा फल चाहिए वैसा ले सकते हो! अहिंसा का आराधन करने वाला कभी विफल नहीं होता।

अहिंसा अत्यन्त सरल है। उसमें छल-कपट के लिए रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं है। वह विशुद्ध है और उद्योत करने वाली है। सभी धर्मों का अहिंसा धर्म मे ही समावेश हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे हाथी के पैर में सभी के पैरों का समावेश हो जाता है।

अरे भाई! गृहस्थ का पहला धर्म दया है। तू दूसरों पर दया करेगा तो तेरी दया होगी। दूसरों पर दया करना ही अपने ऊपर दया करना है। जहाँ दया नहीं, वहाँ धर्म नहीं। धर्म की आत्मा दया में ही निवास करती है। दया से ही धर्म का आरंभ होता है और दया में ही उसकी समाप्ति होती है। दया धर्म मोक्ष

का मार्ग दिखलाता है। इसलिए, भाई! अगर तुझे अपने कल्याण की कामना है तो उपाय मैं बतला रहा हूं। तू दया से अपने दिल को परिपूर्ण कर ले। तेरा कल्याण होगा, अवश्य होगा।

गृहस्थ का दूसरा धर्म सत्य है। जिसके हृदय में सत्य है वह संसार-समुद्र को तिर जायगा। सत्य एक महान् साधना है। कहा भी है:—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप॥

भाइयो! सत्य भी बड़ी भारी चीज है। अगर सम्पूर्ण सत्य का आचरण न कर सको तो जितना कर सकते हो उतना करो। दुनियाँ में कहावत है-नहाए जितनी गंगा! जितना बन पड़े उतना ही लाभ है। अतएव अगर एक देश से-आंशिक रूप से सत्य का आचरण कर सकते हो तो भी करो, मगर करो। अपने जीवन को सत्य से सर्वथा शून्य मत रहने दो। जितनी और जैसी करनी करोगे, उतना और वैसा ही फल पाओगे। जितना गुड़ डालोगे उतना ही मीठा होगा।

सत्य मनुष्य को प्रामाणिक बना देता है। वह दुर्गुणों को मिटा कर सद्गुणी बना देता है। सत्य की महिमा बतलाते हुए प्रश्न-व्याकरणसूत्र में कहा है:—

सच्चेण य उदगे संभमति न वुड्डंति, न य मरंति थाहं च ते लहंति।
सच्चेण य अगणि संजलम्मि वि न डज्झंति॥

सत्य के प्रताप से अगाध समुद्र में पड़ा हुआ मनुष्य भी डूब नहीं सकता। वह भँवर मे पड़ कर भी बाहर निकल आता है। उसके लिए अगाध जल भी छिछला हो जाता है। सच्चा आदमी आग में गिर पड़े तो भी जल नहीं सकता। गरमागरम जलते हुए लोहे के गोले उसकी हथेलियों पर रख दिये जाएँ तो उसके हाथ नहीं जलते। उबलता हुआ शीशा उसे पिला दिया जाय तो भी उसका बाल बाँका नहीं हो सकता।

सत्यवादी को कोई विष मार नहीं सकता है, क्योंकि सत्य अमृत है। सत्यनिष्ठ पुरुष पर शस्त्रों का प्रहार असर नहीं करता क्योंकि सत्य स्वयं जीवनमय है। सत्यवान् को आग नहीं जलाती, क्योंकि सत्य शीतल सलिल है। सत्यपरायण को जल डुबा नहीं सकता, क्योंकि सत्य दिव्य नौका है।

अहिंसा की तरह सत्य भी सर्वमान्य धर्म है। सभी धर्म सत्य की महिमा का वर्णन करते हैं, कहा भी है:—

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि, सत्यमेव विशिष्यते॥

अर्थात् एक पलड़े पर एक हजार अश्वमेध यज्ञ और दूसरे पलड़े पर सत्य को अगर रख कर तोला जाय तो सत्य का पलड़ा भारी रहेगा।

भाइयो! अश्वमेध यज्ञ में तो हिंसा होती है और हिंसा सदैव पाप का कारण है। मगर जो लोग अश्वमेध से पुण्य होना मानते हैं उन्हें अपने ऋषि के इन वचन पर ध्यान देना चाहिए। सत्य

बोलने में हिंसा भी नहीं है, और महान् फल की प्राप्ति भी होती है। सच बात तो यह है कि जो मनुष्य सत्य के प्रति सच्चा निष्ठावान् होगा, उसकी सभी बुराइयाँ दूर हो जाएँगी।

किसी राजा का एक लडका था। उसे सातो कुव्यसनो के सेवन की लत पड गई। वह मांस खाता, शराब पीता, जुआ खेलता, वेश्यागमन करता, परस्त्री सेवन करता, शिकार खेलता और चोरी भी करता था। राजकुमार की इन खोटी आदतों से प्रजा तंग आ गई और दिन-प्रतिदिन राजा के पास शिकायतें आने लगीं। सहन करने की कोई हद होती है। लोग कहाँ तक सहन करते? फिर और-और बातें तो सहन की भी जा सकती हैं, मगर अपनी बहू-बेटियों की बेइज्जती कैसे सहन की जा सकती है? जब माथे पर आ जाती है तो बोलना ही पडता है।

कई लोग जाति के नियम के विरुद्ध आचरण करते है, अर्थात् शराब पीने और मांस खाने लगते हैं। मगर जब लोग जान जाते हैं तो एक दिन उसका तख्ता उलट जाता है। उसे जाति-बहिष्कृत कर दिया जाता है। कहो भाई! जाति के लोग आखिर कहाँ तक सहन कर सकते हैं? चाहे कोई ब्राह्मण हो या वैश्य हो, जाति के अच्छे नियम तो सभी को मानने चाहिये। कोई न माने तो जाति वाले कहाँ तक बर्दाश्त करेंगे?

यदि कोई साधु होकर उलटे रास्ते चले और चलता ही रहे तो श्रावक आखिर कब तक दर-गुजर करेंगे? उन्हें यथोचित उपाय काम में लाना ही पड़ेगा। कुछ लोग समझते हैं कि हम छिपकर पाप-कर्म करते हैं तो किसी को खबर ही नहीं पड़ेगी। मगर नीतिकार कहते हैं.—

पाप छिपाए ना छिपे, छिपे तो मोटा भाग।
दाबी दूबी ना रहे, रुई लपेटी आग ॥

जैसे रुई में लपेटी हुई आग दबी नहीं रह सकती, उसी प्रकार पाप छिपाये छिप नहीं सकते। किसी रोज बुरे कर्म का फल बहुत बुरा होता है।

जब रैयत शिकायतें ले-लेकर राजा के पास पहुँची तो राजा को बहुत दुःख हुआ। लेकिन बराबरी का और इकलौता लड़का था। इन कारण राजा बड़े पशोपेश मे पड़ गया। उसे भविष्य अंधकारमय दिखाई देने लगा। उसने सोचा-मेरे एक यही लड़का है। यह बुरी लतो का शिकार हो गया है। अगर इसका सुधार न हुआ तो राज्य का काम किस प्रकार चलेगा? उधर प्रजा की शिकायतो को भी वह बर्दाश्त नहीं कर सकता था और इधर अपने अपमान के डर से कुमार को भी कुछ नहीं कह सकता था।

इसी बीच वहाँ एक मुनिराज पधारे। राजा प्रसन्नता और श्रद्धा भक्ति के साथ मुनिराज के पास पहुंचा। उसने मुनिराज से अपने लड़के के दुर्व्यसनों का हाल कहा। साथ ही प्रार्थना की—कृपा कर अपने उपदेश मे ऐसा प्रकाश डालिए कि लड़का सीधे रास्ते पर आ जाय। इससे बड़ा उपकार होगा। रैयत का और मेरा आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान मिट जायगा और लड़के का भी कल्याण होगा।

दूसरे दिन राजा ने राजकुमार को मुनिराज का उपदेश सुनने के लिए चलने को कहा। राजकुमार तैयार हो गया और अपने यार दोस्तों के साथ मुनिराज के पास पहुँचा। मुनिराज ने अपने

उपदेश में सातों कुव्यसनों पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला । मगर राजकुमार को वह उपदेश रुचिकर नहीं हुआ, बल्कि बुरा लगा। वह बीच में ही उठकर चला आया ।

साधु-संतों के पास सभी तरह के आदमी आते हैं । जब साधु को किसी से कुछ लेना देना नहीं है तो उनका असर भी पड़ता है । वे निस्वार्थ भावना से उपदेश देते हैं । सबके भले के लिए कहते हैं। उन्हें क्या मालूम कि यह आदमी ऐसा है और यह आदमी वैसा है । सबकी हिस्ट्री (जीवन का इतिहास) उन्हें थोड़े ही मालूम रहती है। व्याख्यान सर्व साधारण को लक्ष्य करके होता है । ऐसी स्थिति में अगर कोई यह समझ बैठे कि महाराज ने मेरे ऊपर ही आक्षेप किया है तो यह उसकी भूल है ।

एक दिन मैं उपदेश दे रहा था कि एक पत्नी के रहते दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। परिषद् में एक आदमी ऐसा बैठा था, जिसके दो औरतें थीं। वह दूसरे दिन से उपदेश सुनने नहीं आया। जब मैं ने किसी दूसरे से पूछा कि अमुक आदमी आज-कल दिखाई नहीं देता, तो मालूम हुआ कि उसने उस दिन का उपदेश सुनकर समझ लिया कि महाराज ने मुझे लक्ष्य करके कहा है। इसी कारण उसने उपदेश सुनना ही छोड़ दिया है। मैं ने कहा-मेरे पास दो औरतों वालों की सूची होती और वह उसमें अपना नाम लिखा देता तो मैं ध्यान रखता !

हाँ तो राजकुमार बीच में से उठकर चला गया तो मुनिराज का क्या बिगड़ गया ? कहावत है:—

जगन्नाथ के भात में जगत् पसारे हाथ ।

यदि कोई नहीं जीमेगा तो आप भूखा मरेगा ! यहाँ तो सब के लिए भोजन है । किसी को किसी प्रकार की रोकटोक नहीं है । सब के लिए फाटक खुला है । जिसे भूख हो, खाने की रुचि हो वही आ सकता है । साधु-महाराज तो सब की भलाई के लिए बात कहते हैं । कुमार को उचित तो यह था कि वह मुनिराज का उपदेश श्रवण कर अपनी बुरी आदतों को छोड़ देता; पर उसे उलटा बुरा लगा और फिर उसने उनके पास जाना ही छोड़ दिया ।

कुछ दिनों बाद दूसरे मुनि पधारे । राजा ने फिर वही तरीका अख्तियार किया । वह राजकुमार को साथ लेकर उपदेश सुनने गया । मुनिराज ने फिर दुर्व्यसनों के त्याग का उपदेश दिया । कुमार को फिर बुरा लगा और वह फिर बीच में से उठ कर चला गया ।

इस प्रकार जब कभी भी कोई नये सन्त पधारते तो राजा अपने साथ कुमार को ले जाता । मगर राजकुमार पर कोई असर नहीं हुआ । आखिर राजा बहुत परेशान हुआ । वह मन ही मन बहुत दुखी रहने लगा ।

कुछ समय व्यतीत होने पर फिर एक महात्मा पधारे । राजा ने उनसे भी राजकुमार का सारा हाल कहा और उपदेश देने की प्रेरणा की । मुनिराज ने कहा—जैसी मेरी इच्छा होगी, वैसा ही उपदेश करूँगा ।

दूसरे दिन राजा ने राजकुमार से कहा—अपने नगर में एक उच्च श्रेणी के महात्मा पधारे हैं। चलो, उनके दर्शन करें और उपदेश सुनें।

राजकुमार बोला—चलिए, मैं तैयार हूँ। मगर उपदेश पसंद आया तो अन्त तक बैठा रहूँगा, नहीं तो बीच में ही उठकर चला आऊंगा।

राजा और राजकुमार साथियों के साथ मुनिराज के पास पहुंचे। मुनिराज ने उपदेश आरम्भ किया:—

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप॥

भाइयो! सत्य बोलना परम धर्म है। सचाई का आसरा लेना चाहिए और सचाई से रहना चाहिए। सत्य संसार में सर्वोपरि है। जहां सत्य है वहाँ परमेश्वर है। जहां सत्य है वहीं सद्गुण है। जहां सत्य है वहां सच्ची मनुष्यता है। शास्त्र में कहा है:—

तं सच्चं खु भयवं।

—प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार, २.

अर्थात् सत्य ही भगवान है।

सत्य का विरोधी भाव असत्य—झूठ—है। झूठ पापों का सरदार है।

सज्जन तुम झूठ मत बोलो, साहब को सत्य प्यारा है ।
सत्य सम शरणा नहीं दूजा, सत्य साहब को प्यारा है ॥

ऐ मित्रो ! सत्य ईश्वर को प्यारा है, इसलिए सत्य का ही सदा सेवन करो । सच्चिदानन्द से मिलना हो, स्वयं सच्चिदानन्द-स्वरूप प्राप्त करना हो तो सच बोलो । कभी झूठ का नाम मत लो । झूठ शरणभूत नहीं है । सत्य के समान दूसरा कोई शरण नहीं है । तुम्हारा कल्याण होना है तो विश्वास रक्खो कि वह सत्य के द्वारा ही होगा । असत्य के सेवन से कदाचित् तुम अपने दोषों को छिपा लोगे तो भी उससे क्या लाभ होना है ? इससे दोष दूर नहीं हो जाएंगे, बल्कि भीतर ही भीतर वे तुम्हारी जिंदगी को मलिन से मलिनतर बनाते जाएंगे । इसके विपरीत अगर एक मात्र सत्य को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लोगे, सत्य की ही उपासना करोगे, सत्य के लिए सर्वस्व समर्पित करने की दृढ़ भावना रक्खोगे और सत्य की असीम शक्ति पर श्रद्धा रखकर कभी असत्य को अपने पास नहीं फटकने दोगे, तो तुम्हारे जीवन में एक अपूर्व और अद्भुत सुनहरी प्रकाश जगमगाने लगेगा । तुम्हारा हृदय सबल बनेगा, निर्भय बनेगा, क्षमताशाली बनेगा और तुम अपने भीतर दिव्य शक्ति का अस्तित्व अनुभव करने लगोगे । सत्य के बीज से, अन्तःकरण के प्रदेश में एक ऐसी प्रचण्ड शक्ति का उदय होता है जिसे पाकर मनुष्य अजेय और अप्रतिहत होजाता है । सत्य के प्रबल प्रताप से इसी लोक में परम मंगल की प्राप्ति होती है ।

मगर यह न समझ लेना कि सत्य का प्रभाव इसी लोक तक सीमित है । नहीं, सत्य की शीतल और स्वच्छ धारा में अवगाहन

करने वाले मनुष्य में एक ऐसी पावनी शक्ति आ जाती है कि उसका इहलोक के साथ परलोक भी सुधर जाता है। शास्त्र में कहा है कि जो मनुष्य सच्ची वाणी बोलता है, वह देव की आयु बाँधता है और मृत्यु के बाद स्वर्ग में उत्पन्न होता है। जो मनुष्य सत्य का सेवन करता है, वह संसार का सेवनीय बन जाता है। जो सत्य का सत्कार करता है, वह सर्वत्र सत्कार का पात्र बनता है। जो सत्य की पूजा करता है, वह विश्व का पूज्य बन जाता है।

पहले जमाने में जब पत्र लिखा जाता था तो उस पर ७४॥ का अंक लिखा जाता था। प्रश्न किया जा सकता है कि इसका प्रयोजन क्या है? सुनिये:—

वणिक् पुत्र कागज लिखे, सात चार दो रेख।
अणगाणियो पूछे पंडितां, इणरो काई विवेक? ॥

विद्वान उत्तर देता है.—

सातो कहे सत राखजो, चउ दिशि लक्ष्मी होय।
सुख-दुख रेखा दो कर्म की, टाल सके नहीं कोय ॥

सर्वप्रथम सात लिखने का मतलब यह है कि लिखते समय सत्य ही लिखना चाहिए। दुकान को लोग गणेशजी की पेढ़ी या शिवजी की पेढ़ी कहते हैं, लेकिन कर्त्तव्य क्या करते हैं? दुकान पर बैठे-बैठे गप्पें मारते हैं, झूठा नामा लिखते हैं, गरीबों का गला काटते हैं। भोला भाला गरीब ले जाता है पाँच और लिख लेते हैं पचास! अरे गपोड़ शंख! नाम तो भगवान् का रखता है और ऐसी अनीति करता है! तभी तो दुनिया सुखी नहीं होती। सचाई के बिना सुख कैसे मिल सकता है?

सचाई के बराबर संसार में कोई चीज नहीं है। सत्य बोलोगे तो निडर रहोगे। अगर झूठा नामा-लेखा लिखोगे तो कई जगह काट छाँट करनी पड़ेगी और एक झूठ को छिपाने के लिए अनेक झूठों का आश्रय लेना पड़ेगा। फल यह होगा कि झूठ की परंपरा चल पड़ेगी और तुम्हारा सारा का सारा जीवन झूठमय हो जायगा। इसलिए भाइयो और बहिनो! सभी सत्य का पालन करो। सत्य विचार, सत्य उच्चार और सत्य आचार की यह त्रिपदी महान् मङ्गल का मार्ग है।

मुनिराज का इस प्रकार का उपदेश सुन कर राजकुमार बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सोचा-सत्य बोलने की प्रतिज्ञा धारण कर लेने से मेरी दूसरी आदतों पर कोई असर नहीं पड़ता। अतः यह प्रतिज्ञा ले लेना ही अच्छा है यह सोचकर राजकुमार खड़ा हुआ और बोला-मुनिराज! मैं जीवन पर्यन्त सत्य बोलने की प्रतिज्ञा लेता हूँ।

मुनिराज ने असत्य बोलने का त्याग करवा दिया। साथ ही चेतावनी दी—राजपुत्र! देखो, अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना।

राजकुमार ने दृढ़ता दिखलाते हुए कहा-महाराज! मैं क्षत्रिय हूँ। अपने प्रण को प्राण देकर भी भंग नहीं होने दूंगा। जान जाय तो जाय, पर मेरा प्रण नहीं जायगा।

कुमार मुनिराज को नमस्कार करके चला गया। राजा ने मुनिराज के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा-गुरुदेव, आप धन्य हैं। आपकी वाणी बड़ी प्रभावशालिनी है। राजकुमार को आपने सन्मार्ग की ओर उन्मुख करके मुझ पर बड़ी दया की है। फिर भी ऐसा ही उपदेश दीजिएगा।

मुनिराज ने अपनी प्रशंसा से तनिक भी हर्षित न होते हुए मध्यस्थ-भाव से कहा-नरेश, उपदेश तो मैं वही दूंगा, जो मेरे मन में आयगा। किस को क्या और किस ढंग से उपदेश देना चाहिए यह मैं थोड़ा बहुत समझता हूँ। इस विषय में तुम मेरे शिक्षक नहीं बन सकते। कुमार को फिर लाओगे तो मैं जो उचित समझूंगा, उपदेश दूंगा।

राजकुमार अपने महल में पहुंचा। दिनभर कोई विशेष घटना नहीं हुई। रात्रि होते ही उसके यार-दोस्त आ पहुँचे और मदिरा पीने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया। मगर राजकुमार के पास पैसे नहीं थे। दोस्तों ने सलाह की—चलो, खजाने पर हाथ साफ करें। पैसा ही पैसा हो जायगा। राजकुमार बोला-खजाने से रुपया चुरा भले ही लो, मगर एक बात ध्यान में रखनी है। मैंने असत्य बोलने का त्याग कर दिया है। सुबह अगर राजा मुझसे पूछेंगे कि ताला किसने तोड़ा है, तो मैं सच सच कह दूंगा। मैं कहूंगा कि ताला मैंने तोड़ा है और मेरे अमुक-अमुक दोस्त मेरे साथ थे।

राजकुमार की बात सुन कर दोस्त कहने लगे-यह तो ठीक नहीं है। हम लोग फँस जाएँगे और बेमौत मारे जाएँगे।

इसके बाद राजकुमार के दोस्तों ने और-और कुव्यसनों के लिए आमंत्रित और प्रेरित किया। मगर सत्य की दीवाल सभी जगह आड़ी आगई। उसके दोस्त समझ गये कि राजकुमार सत्यवादी बन गया है, अतः अब हम लोगों की दाल नहीं गलेगी। इसके सत्य के कारण किसी दिन हम लोग भारी संकट में पड़ जाएँगे। अब इसका पिण्ड छोड़ देने में ही कुशल है। इन

प्रकार सोच कर सब यार-दोस्त अपनी-अपनी राह लगे। सभी प्राण बचा कर भागे। उस दिन के बाद फिर कभी कोई ऐसा दोस्त नहीं आया जो राजकुमार को दुर्व्यसन की ओर खींच ले जाने का प्रयत्न करता।

जो लोग किसी धनवान् को दुराचार के मार्ग पर ले जाते हैं, वे उसके सच्चे मित्र नहीं है। नीतिकारों ने सच्चे मित्र के लक्षण बतलाते हुए कहा है—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यानि गूहति गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति, ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

शिष्ट पुरुषों ने अच्छे मित्र के लक्षण यह कहे हैं:—सच्चा मित्र वही है जो अपने मित्र को पाप- कार्य से रोकता है। जो उलटा पाप के लिए प्रेरित करता हो, पाप-कार्य करने की सलाह देता हो या पाप-कर्म करने में सम्मिलित करता हो, वह सच्चा मित्र नहीं है। सच्चा मित्र जब देखता है कि मेरा मित्र अहितकर मार्ग पर चल रहा है तो वह उसे समझा-बुझा कर हित मार्ग में प्रवृत्त करता है। वह अपने मित्र की गुप्त बातों को छिपाता है और उसके गुणों को प्रकाश में लाता है। जब कभी मित्र संकट में पड़ जाता है तो उससे किनारा नहीं काट लेता। विपत्ति के समय उसका साथ देता है और अवसर आने पर यथोचित सहायता भी देता है।

इस प्रकार पाप से बचाने वाले और पुण्य-मार्ग में प्रवृत्त करने वाले मित्र संसार में विरले ही होते हैं। राजकुमार के सभी मित्र व्यसनी, लम्पट और स्वार्थी थे। राजकुमार ने जब सत्य बोलने का प्रण ले लिया और इस कारण जब उनके स्वार्थ में बाधा आती दिखाई दी तो सब के सब भाग छूटे। स्वार्थी मित्र तभी तक रहते हैं जब तक पैसा पास में होता है।

सब दोस्त जहां में मतलब के,
दुनियां में किसी का कोई नहीं।
जब पास तुम्हारे पैसा था,
तब मित्र तुम्हारे लाखों में।
जब पास तुम्हारे पाई नहीं,
दुनिया में तुम्हारा कोई नहीं॥

दोस्त, यार, अजीज, मित्रवर आदि किसी भी नाम से पुकारो अधिकांश सभी तक मित्रवर हैं जब तक आप उन्हें घोट-घोट कर भंग पिलाते हैं और गोल-गोल लड्डू खिलाने में कसर नहीं रखते। और:—

जब पान की पतियां खिलाते थे,
तब मित्र तुम्हारे लाखों में।
जब पास तुम्हारे पान नहीं,
दुनिया में किसी का कोई नहीं॥

जब आपके पास पान खिलाने को पैसे थे और आप

कहते थे-आइये साहब, पान खाइये, तो आपके मित्रों की कमी नहीं थी। मगर यदि आज पैसा नहीं है तो कोई पास फटकेगा भी नहीं। वास्तव मे उनकी दोस्ती आपसे नहीं थी, पान से थी, माल-मलीदे से थी !

और कहा भी है:—

जब दूध रबाड़ियाँ खिलाते थे,
तब दोस्त की पदवी पाते थे।
जब पास तुम्हारे कुछ न रहा,
दुनिया में तुम्हारा कोई नहीं ॥

याद है कि नहीं ? जब भर-भर दोना रबड़ी उड़ती थी तब कितने दोस्त तुम्हारे आस पास चक्कर काटा करते थे ? और जब तुम्हारे पास कुछ नहीं रहा तो कौन पास में फटकता है ? दोने हुए खलास, तो कौन फटके पास ?

आखिर राजकुमार के सब स्वार्थी मित्रो ने अपना-अपना रास्ता लिया। वह अकेला ही रात भर राजमहल में रहा। दूसरे दिन राजा ने अपने गुप्तचरो से कुमार का हाल पूछा कि कुमार आज रात को कहाँ था ? गुप्तचरो ने कहा-आज रात महल में ही रहे। प्रश्न किया-क्या यार-दोस्त आये थे ? गुप्तचर बोले-हाँ, हुजूर, आये तो थे, मगर सब वापिस लौट गये। कुमार ने उनसे कहा-महाराज पूछेंगे तो सब बातें सच्ची-सच्ची कह दूंगा ! इस डर के मारे वे सब 'नौ दो ग्यारह हो गये !

यह सब सुनकर राजा की प्रसन्नता का पार न रहा। यह

सोचने लगा-वाह रे महात्मा ! मैं ने तो कहा था कि यूं कहना और यूं कहना, लेकिन आपने तो असली नस ही पकड़ ली ! मेरी रियासत और मेरा खानदान सुधर गया ।

उसके बाद राजा और राजकुमार दोनों फिर उन महात्मा के पास गये । फिर उपदेश सुना । महात्मा के उपदेश से राजकुमार कुन्दन बन गया । धीरे-धीरे उसका यश राजा से भी अधिक फैल गया । भाइयो ! सत्य के प्रभाव से राजकुमार कुछ का कुछ बन गया ! वह अंधेरे से उजेले में आ गया, मानो अंधे को आँखें मिल गई हों ! तुम में से जो भाई और बहिनें कुन्दन बनना चाहें प्रकाश में आना चाहें, जीवन को सार्थक करना चाहें, वे सत्य बोलने की प्रतिज्ञा लें ।

(इस अवसर पर बहुत से भाइयों ने और महिलाओं ने सत्य बोलने की प्रतिज्ञा ली । ऐसा करने वालों में अजैनों की संख्या अधिक थी ।)

कहा है:—

सज्जन, तुम झूठ मत बोलो, साहब को सत्य प्यारा है ।
सत्य सम सरखा नहीं दूजा, सत्य साहब को प्यारा है । टेर॥
चाहे गंगा चाहे जमना, चाहे सरजू किनारा है ।
चाहे मंदिर चाहे मस्जिद, चाहे ठाकुर द्वारा है ॥ १ ॥
दोजख के बीच फरिश्ते, झूठों की जीभ कतरेंगे ।
फेर गुरजों से मारेंगे, फेर वहां पर पुकारा है ॥ २ ॥

चाहे गंगाजी जाओ और चाहे मंदिर, मस्जिद आदि में जाओ, लेकिन झूठ मत बोलो, सत्य को पकड़ो। एक सचाई को पकड़ लो, यही असली चीज है। सत्य धर्म की नाड़ी है। जो गृहस्थ-धर्म में से एक सत्य को ही पकड़ लेता है, उसका बेड़ा पार हो जाता है। सत्य के प्रभाव से संसार में अनेकानेक जीवों का परम कल्याण हुआ है; इस सचाई के अनेक उदाहरण शास्त्रों में आज भी विद्यमान हैं।

जम्बूकुमार की कथा—

जम्बूकुमार ने भी उसी पतितपावन सत्य का सहारा लिया। उन्होंने घर आकर कहा-माँ, मुझे संसार निस्सार प्रतीत होता है। भोगोपभोग भोगते-भोगते अनादि काल से अब तक का अनन्त समय बीत गया है, पर तृप्ति नहीं हुई। विचार करने पर विदित हुआ कि भोगों में तृप्ति है ही नहीं। वे तो अतृप्ति-असन्तोष को भड़काने वाले हैं। आग में घी डाला जायगा तो वह शान्त नहीं होगी। उसकी ज्वालाएं अधिकाधिक प्रचण्ड ही होती जाएगी, इसी प्रकार भोग भोगने से अन्तःकरण में तृप्ति नहीं हो सकती, शान्ति नहीं हो सकती, बल्कि अशान्ति की ही वृद्धि होगी। फिर शान्ति पाने की इच्छा से अशान्ति की राह पर क्यों चलना चाहिए? धूप से घबराकर आग की लपटों में कूदना अगर मूर्खता है तो सच्चे सुख को प्राप्त करने के लिए भोगों के मार्ग पर चलना भी मूर्खता ही है। मां, मैंने भगवान् सुधर्मा स्वामी की वाणी सुनी है। मैंने तत्त्व को पकड़ लिया है। मैं मुनि बनूंगा, तपस्या करूंगा और मुक्ति प्राप्त करूंगा।

अपने प्राणप्रिय पुत्र जम्बूकुमार की बात सुनते ही माता के हृदय को गहरा आघात लगा और वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। उसकी सुधबुध जाती रही। कुछ देर तक जमीन पर पड़ी रही। दासियों को मालूम हुआ तो वे दौड़ीं। उन्होंने ठंडा पानी छिड़का। पंखा झला। तब होश आया। वह रोने लगी। रोती रोती माता बोली—बेटा! क्या मेरे पांच-सात बेटे हैं? नहीं। हमारे यहां तू ही एक मात्र लड़का है। मैं एक क्षण के लिए भी तेरी जुदाई नहीं सह सकती। फिर मैं तुझे साधु बनने की आज्ञा कैसे दे सकती हूँ? मेरे लाल! जैसे अंधे को लकड़ी का आधार होता है और पक्षी को पंखों का आधार होता है, उसी प्रकार हमें तेरा आधार है, और तू साधु बनने को कहता है, तेरे साधु बन जाने पर हमारी क्या दशा होगी? किसका सहारा लेकर हम अपनी जिन्दगी पूरी करें?

इधर माँ-बेटे में यह बातें चल रही थीं, उधर पीठी मर्दन करने वाली जम्बूकुमार की राह देख रही थीं। औरतें मंगलगीत गा रही थीं। मकान के बाहर बिंदौरी का लवाजमा तैयार हो रहा था। सभी उतावल कर रहे थे कि कुंवर को जल्दी भेजो, देरी हो रही है। उधर कुंवर साधु बनने के लिए तैयार हो रहे थे।

माता फिर कहने लगी—मेरी आंखों के तारे! तुझे किसने भरमा दिया है? तेरे दिमाग में साधु बनने की सनक कैसे सवार हो गई है? क्या साधुपन पालना हंसी-मजाक है? अरे, साधु बनना खांडे की धार पर चलना है. साधु को बाईस तरह के परी-षह सहन करने पड़ते हैं। कभी भोजन मिल जाता है, कभी नहीं

मिलता तो तपस्या करनी पड़ती है। जब सूरज से आग बरसती है और जमीन तप जाती है, तब भी बिना घबराहट के सरल सहज भाव से उघाड़े सिर, नंगे पांव, पैदल चलना पड़ता है। कुंवर ! जरा लम्बा विचार करो। आगे की बात सोचो। साधुपन हंसी-ठट्ठा नहीं है ! देखो, मेरुपर्वत को उठा लेना जैसे कठिन है उसी प्रकार तेरा साधुपन पालना कठिन है। अग्नि की झाल पीना सरल हो सकता है पर साधुपन पालन करना सरल नहीं है। साधु की चर्या पालन करना लोहे के चने चबाना है। अपनी भुजाओं के सहारे समुद्र को एक छोर से दूसरे छोर तक पार करना जैसे कठिन है, उसी प्रकार साधु का आचार पालना कठिन है। जैसे हिमाचल से नीचे बहने वाली नदी के सहारे तैर कर ऊपर चढ़ना कठिन है, उसी प्रकार साधुपन पालना भी कठिन है। बेटा, इस सुकुमार शरीर से, जिसने कभी धूप नहीं देखी, साधुपन नहीं पल सकेगा।

क्या तुझे खयाल नहीं है, साधुओं को घर-घर से भिक्षा लाकर अपना उदरनिर्वाह करना पड़ता है। कई बार अपशब्द भी सुनने पड़ते हैं। सर्दी और गर्मी सहनी पड़ती है। कितनी ही कड़ाके की सर्दी पड़े, आग का सेवन करना साधु के लिए निषिद्ध है। रूई भरे कपडे ओढ़ने की मनाई है। गर्मी कैसी ही क्यों न पड़ रही हो, पंखा झलने का भी निषेध है। यहाँ तक कि साधु अपने कपड़े से भी हवा नहीं कर सकते। जब वर्षा ऋतु आती है और लगातार वर्षा होती रहती है तो साधु गोचरी नहीं कर सकते। निराहार ही रहना पड़ता है। यह तो मौसिमी कष्ट हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के कष्ट साधु को भुगतने पड़ते हैं।

किसी प्रकार अगर बाहर के कष्टों को सहन भी कर लिया तो भी जब तक मन में समभाव नहीं आता तब तक साधुता का कोई मूल्य नहीं है। स्तुति की तरह निन्दा के शब्द सुनकर चित्त में लेशमात्र भी क्षोभ नहीं होना चाहिए। मन में सदैव विरक्ति रहनी चाहिए। चित्त एकदम निर्विकार हो, इन्द्रियां विषयों की तरफ न दौड़ें, आत्मा अपने स्वरूप में रमण करता रहे। यह सब साधु जीवन की अंतरंग विशेषताएं हैं। इनके अभाव में साधु-वेष धारण कर लेने पर भी वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता। इसीलिए वृद्धावस्था में साधु बनना उचित है। तू तो अभी बालक है, नवयुवक है। इस अवस्था में तू अपने चित्त को इस प्रकार नहीं साध सकेगा। बेटा, जरा विचार कर देख। हठ पकड़ने से काम नहीं चलेगा।

जम्बूकुमार माता के द्वारा इस प्रकार समझाये जाने पर भी अपने विचार से विचलित नहीं हुए। वह समझ गये कि मेरी माता पुत्र-वात्सल्य के कारण ही यह सब कह रही है। लेकिन माता के इस मोह को भंग करना ही होगा। इनका मोह न इनके लिए कल्याणकारी है और न मेरे लिए ही हितकारक है। इस प्रकार मन ही मन सोच कर जम्बूकुमार बोले:—

माताजी ! आपका मुझ पर अपरिमित उपकार है। अपना सम्पूर्ण जीवन देकर भी आपके उपकार से मैं उऋण नहीं हो सकता। मेरा यह शरीर वास्तव में आपकी ही सम्पत्ति है। आपको मेरे इस शरीर पर और मेरे प्राणों पर पूरा अधिकार है। मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहता और न आपके हृदय को आघात पहुंचाना चाहता हूं। भगवान महावीर

स्वामी ने बड़ों की आज्ञा लेकर दीक्षित होने का जो नियम बनाया है, उसके मूल में कई विशेषताएँ हैं। मैं समझता हूं कि हठ करके जबर्दस्ती करके, अनुचित उपाय द्वारा आज्ञा प्राप्त कर लेना सच्ची आज्ञा प्राप्त कर लेना नहीं है। ऐसा करने से भगवान् की आज्ञा की भली भाँति आराधना नहीं होगी। वह आज्ञा मुंह की आज्ञा हो सकती है, हृदय की नहीं। मैं तो आपके हृदय की आज्ञा चाहता हूँ। जब वह मुझे मिल जायगी तो मैं अपने आपको भाग्यशाली समझूंगा।

माता ! आपने गर्मी, सर्दी और वर्षा के समय मुनि को होने वाले कष्टों का जिक्र किया है और समय-समय पर होने वाले दूसरे कष्टों का भी उल्लेख किया है। वह सत्य है। मगर देखना चाहिए कि कष्ट अपने आप में ही दुःख रूप हैं या जब उसे कष्ट माना जाता है तब वह दुःख रूप बनता है ? संसार में अपनी आजीविका का निर्वाह करने के लिए लोगों को नाना प्रकार के कष्ट भुगतने पड़ते हैं। मगर क्या उसे वे दुःख के रूप में अनुभव करते हैं ? माँ, मेरे लालन-पालन करने में तुम्हें कई बार बड़े कष्ट उठाने पड़े हैं, मगर सच-सच बताओ कि क्या उन कष्टों को आपने दुःख समझा था ? आपने दुःख नहीं समझा, बल्कि उन कष्टों को सुख माना है। इससे सिद्ध है कि सभी कष्ट दुःख रूप नहीं होते। साधुजनों को सर्दी-गर्मी आदि के जो भी कष्ट भोगने पड़ते हैं, वे दूसरों को दुःख रूप मालूम होते हैं; मगर साधुओं से पूछिए तो आपको मालूम होगा कि वे उन्हें दुःख रूप नहीं लगते। साधु उन कष्टों को प्रसन्न भाव से स्वीकार करते हैं, इसलिए वे कष्ट दुःख रूप न होकर उलटे सुख रूप में परिणत हो जाते हैं। जिस काम के लिए दिल में लगन होती है, हृदय में उत्साह होता

है, उसमें आने वाले कष्ट सुख-स्वरूप ही बन जाते हैं। साधु बनने और साधु की चर्या का पालन करने के लिए मैं उत्कंठित हूँ। साधुता धारण करने के लिए मेरे हृदय में उत्साह है। ऐसी हालत में वे कष्ट मेरे लिए दुःख रूप नहीं होंगे, बल्कि सुख रूप ही बन जाएँगे।

माताजी ! आप मुझे दुःखों से बचाना चाहती हैं और सुखमय स्थिति में रखना चाहती हैं। यह तो उचित ही है, मगर क्या आप नहीं जानती कि सुख कहाँ है ? पर-पदार्थों के संयोग में सुख है अथवा उनके साथ सम्बन्ध छोड़ने में सुख है ? इस भूतल पर जितने भी ज्ञानी महापुरुष हो चुके हैं, उन सब ने एक स्वर से, एक ही बात कही है कि जितना-जितना पर पदार्थों से सम्बन्ध छूटता जायगा, उतना ही उतना सुख प्राप्त होना चला जायगा और ज्यों-ज्यों दुनिया के पदार्थों के साथ सम्बन्ध बढ़ेगा, त्यों-त्यों दुःख बढ़ेगा। ज्ञानीजनों की यह वाणी निराधार नहीं है। इसकी सचाई किसी भी समय अनुभव से सिद्ध की जा सकती है। बात यह है कि आकुलता दुःख है और निराकुलता सुख है। पर पदार्थों के साथ सम्बन्ध त्याग देने से आकुलता का दूर हो जाना ही सुख है। इसलिए माँ, अगर आप सचमुच ही मुझे सुखी देखना चाहती हैं और दुःखों से बचाना चाहती हैं तो फिर संसार व्यवहार में फंसाने का विचार मत करो। मुझे सच्चे सुख के मार्ग पर चलने दो।

एक बात और कहता हूँ माताजी ! यह आत्मा अनन्त शक्ति का भंडार है। इसमें असीम शक्ति मौजूद है। ऐसा न होता तो असंख्य-असंख्य बार नरक-निगोद के दुःखों को सहते-सहते

इसका खात्मा हो गया होता ? मगर नहीं, आत्मा ने अनन्त दुःख सहन किये हैं, फिरभी आज यह ज्यों का त्यों मौजूद है । इससे आत्मा के अनन्त सामर्थ्य का परिचय मिलता है । तो विचार कीजिए कि जो आत्मा नरक और निगोद आदि के अनन्त-अनन्त दुःखों को सहन कर सका है और वे दुःख उसका वाल भी बांका नहीं कर सके, वह आत्मा क्या साधु जीवन के साधारण कष्टों को सहन नहीं कर सकेगा ? वह अवश्य सहन कर लेगा । फिर आप मेरे लिए क्यों चिन्ता करती हैं ?

आपने साधु जीवन की आन्तरिक कठिनाइयों का जो जिक्र किया है, उसके लिए मैं निरन्तर साधना करूंगा । मैं आपको लजाऊंगा नहीं, वरन् उत्तम संयम का पालन करके आपकी कीर्त्ति बढ़ाऊंगा ।

जम्बूकुमार का यह युक्तिपूर्ण कथन सुनकर उनकी माता मौन हो रही । उन्होंने समझ लिया कि अब बेटे को संसार के बंधनों में बाँध रखना संभव नहीं है । तब माता बोली—बेटा, तूने जो कहा सत्य है । धर्म पर मेरी श्रद्धा है और ज्ञानी पुरुषों की वाणी को भी मैं जानती और समझती हूं । किन्तु परिस्थिति ऐसी आ गई है कि कुछ समझ में नहीं आता ! तेरी सगाई हो चुकी है, और शादी की धूमधाम शुरू हो चुकी है । इस स्थिति में तू साधु बनेगा तो संसार क्या कहेगा ? उस लोक-हंसाई को मैं कैसे बर्दाश्त कर सकूंगी ?

जम्बूकुमार—माताजी ! दुनिया दुरंगी है । यहां सब तरह के लोग हैं । विवेकवान भी हैं और अविवेकी भी हैं । किस-किसके कहने पर ध्यान दिया जाय ? सारे संसार को कोई सन्तुष्ट नहीं कर

सकता । इसलिए दुनिया की परवाह न करके हमें तो हित-अहित का ही विचार करना चाहिए ।

इस प्रकार बहुत समझाने-बुझाने पर माता जम्बूकुमार को आज्ञा देने के लिए तैयार तो हो गई, मगर शर्त यही रखी कि पहले विवाह कर ले और फिर दीक्षा लेना । जम्बूकुमार ने यह शर्त मंजूर कर ली । मगर कह दिया कि विवाह के बाद मैं दीक्षा अवश्य लूंगा । जिन कन्याओं के साथ मेरा विवाह हो रहा है, उन्हें स्पष्ट रूप से यह बात सूचित कर दी जाय, ताकि वे भ्रम में न रहें और उनके प्रति धोखा एवं विश्वासघात न हो । फिर भी वे चाहें तो विवाह करना मुझे स्वीकार है । उन्हें यह बात मंजूर न हो तो वे अभी पूरी तरह स्वतंत्र हैं ।

आखिर यही तय हो पाया । कन्याओं के पिताओं के पास यह समाचार भेज दिया गया । आठों पिता इकट्ठे हुए । उन्होंने निश्चय किया कि जम्बूकुमार अगर विवाह के बाद ही साधु बनना चाहते हैं तो हमें अपनी कन्याओं का उनके साथ विवाह-संबंध नहीं करना चाहिए । कन्याओं को मँझधार में छोड़ देना उचित नहीं है । लेकिन इस संबंध में कन्याओं से भी परामर्श कर लेना उचित है । उनकी जिन्दगी का प्रश्न उनकी सलाह से हल करना चाहिए ।

कन्याओं की सम्मति पूछी गई । उन्होंने कहा-हम सब आपस में विचार करके उत्तर देंगी ।

भाइयो ! जम्बूकुमार सुख के पथ पर चलने को उद्यत हुए हैं । आप भी उस मार्ग पर अपनी शक्ति के अनुसार चलेंगे तो आनन्द ही आनन्द होगा !

जोधपुर,
ता० २१-८-४८

मुक्ति

॥ स्तुति ॥

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति--

पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।

पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्त,

पद्मानि तत्र विबुधा परिकल्पयन्ति ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं कि हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपका गुणगान किया जाय ? जब भगवान् तीर्थंकर धर्मोपदेश देते हैं और गाँव, नगर, पुर, पाटन आदि में विचरते हैं तब देवगण भगवान् के चरणों के नीचे सुवर्ण-कमलों की रचना करते हैं। भगवान के चरण स्वयं बड़े ही सुन्दर होते हैं। उनके चरणों के नाखून खिले हुए नवीन सुवर्ण-कमलों के समूह की कान्ति के समान चमकदार होते हैं।

भगवान् के चरणों के नखों में एक अपूर्व आभा होती है। वह आभा मानो कहती है कि प्रभो ! आप क्यों कष्ट करते हैं। जगत् का अंधकार तो मैं ही दूर कर दूंगी !

भाइयो ! यह भी भगवान् का एक अतिशय है। सभी तीर्थंकरों में यह अतिशय होता है। यह अतिशय तीर्थंकरों के पूर्व जन्म की तपस्या का फल है। उस महान् तपस्या के फल स्वरूप सब प्रकार की कामनाओं से रहित होने पर भी यह वैभव भगवान् के चरणों में लोटता है। ऐसे तीर्थंकर देव को हमारा बार-बार नमस्कार हो !

तीर्थंकर का पद संसार में सर्वोत्कृष्ट पुण्य का फल है। सर्वोत्कृष्ट पुण्य की प्राप्ति के लिए सर्वोत्कृष्ट करनी की आवश्यकता होती है। एक नहीं, अनेक जन्मों की विशिष्ट साधना और तपस्या के प्रभाव से आत्मा में ऐसे सुसंस्कार उत्पन्न होते हैं जिनसे तीर्थंकर पद प्राप्त होता है। शास्त्र में तीर्थंकर प्रकृति बाँधने के बीस बोल बतलाये हैं। उसका अर्थ यह नहीं है कि बीसों बोलों का सेवन करने से ही तीर्थंकर पद प्राप्त होता है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। बीस बोलों में से एक बोल का भी अगर सर्वोत्कृष्ट रूप में सेवन किया जाय-उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो इस महान् पद की प्राप्ति हो सकती है। उन्हें आप पढ़ें, उन पर विचार करें, मनन करें और उन पर अमल करें। आपके भावों में जितनी रसायन होगी, उतना ही फल आपको प्राप्त हो जायगा।

तीर्थंकर की एक मात्र गति मुक्ति ही है। जिस महान् से महान् पुण्य-शाली आत्मा को तीर्थंकर प्रकृति का उदय हो चुका है, वह मोक्ष में ही जाता है; अन्य किसी गति में नहीं जाता।

मोक्ष के संबंध में भारतीय तत्त्वज्ञों में अनेक मत हैं। उसकी बड़ी लम्बी चर्चा है। पर मैं तो सिर्फ यही बतलाऊँगा कि मोक्ष के संबंध मे जैन धर्म क्या मानता है?

आत्मा अपने स्वभाव से ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि गुणों का भंडार है। मगर अनादि काल से इसके गुणों पर तरह-तरह के आवरण चढ़े हुए हैं। जैसे सोने मे जब अन्य धातुओं का तथा मिट्टी आदि का मिश्रण हो जाता है तो उसकी असली आभा छिप जाती है, उसी प्रकार आत्मा पर कर्म के कारण चढ़े हुए आवरणों के प्रभाव से आत्मा की स्वाभाविक आभा छिप गई है; आत्मा का स्वरूप विकृत हो गया है। जब कोई साधक विशिष्ट तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा पहले बँधे हुए कर्मों को क्षय कर डालता है तो आत्मा अपनी सहज शुद्ध दशा मे आ जाता है। इस प्रकार सब तरह के विकारों से रहित आत्मा की पूर्ण शुद्ध पर्याय को ही मोक्ष कहते हैं।

जो आत्मा एक बार मुक्त हो जाता है, वह सदा के लिए ही मुक्त हो जाता है। वह फिर संसार अवस्था में कभी नहीं आता। कई लोग समझते हैं—जैसे कोई आदमी बीमार पड़ा। उसने बीमारी मिटाने के लिए दवा खाई और उसके फलस्वरूप बीमारी दूर हो गई और वह नीरोग हो गया। मगर थोड़े दिनों के बाद वह फिर बीमार पड़ जाता है। इसी प्रकार कोई आत्मा एक बार मोक्ष में चला जाता है। थोड़े दिनों तक मोक्ष मे रहता है और फिर कभी संसार में आ जाता है। लोगों का यह समझना भ्रमपूर्ण है। मुक्त जीव फिर कभी संसार मे नहीं आते। जो

निरंजन, निराकार पद को प्राप्त हो गया, उसका कभी दुबारा जन्म नहीं होता। जो दुबारा जन्म लेता है वह इस संसार में ही है, उसे मोक्ष मिला ही नहीं है।

अगर हम जन्म-मरण के कारणों पर गहराई के साथ विचार करेंगे तो यह बात सरलता से समझ में आ जाएगी। आखिर जन्म और मरण का कारण क्या है ? बिना कारण के कोई भी कार्य नहीं हो सकता, यह सभी का माना हुआ सिद्धान्त है और प्रत्यक्ष से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए:— कपड़ा एक कार्य है। वह बिना कारण के नहीं बन सकता। उसके लिए सूत चाहिए, जुलाहा चाहिए और यंत्र चाहिए। यह सब कारण होंगे तो कपड़ा बनेगा, नहीं तो नहीं बनेगा। घड़ा भी एक कार्य है। उसके लिए मिट्टी की जरूरत है, चाक की जरूरत है, कुंभार आदि की भी आवश्यकता है। इन सब कारणों के होने पर ही घड़ा बन सकता है; अन्यथा नहीं। इस प्रकार दुनिया में जितने भी कार्य हैं, उन सब के लिए कारण होना ही चाहिए।

कभी-कभी ऐसा होता है कि कार्य तो हमें दिखाई देता है, मगर कारण दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में यह ख्याल किया जा सकता है कि बिना कारण ही कार्य हो गया है ! मगर नहीं, चाहे साधारण आदमी कारण को न देख सकता हो, मगर ज्ञानी पुरुष प्रत्येक कार्य का कारण जानते हैं। अगर ऐसा न माना जाय, अर्थात् कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति मान ली जाय तो बड़ा गोटाला हो जायगा ? फिर तो बिना सूत ही कपड़ा बनने लगेगा, बिना मिट्टी के घड़ा बन जायगा और बिना ही आटे की रोटियाँ बनने लगेंगी। ऐसी स्थिति में सारे संसार की व्यव-

द्रता अनायास ही दूर हो जायगी ! किसी को किसी भी चीज के लिए मिहनत करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। पर यह वात कभी हुई नहीं है और होगी भी नहीं। अतएव निश्चित है कि कारण होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

कार्य-कारण के अविनाभाव-नियम को ध्यान मे रखते हुए हमें जन्म और मरण के कारणो पर भी विचार करना चाहिए। किस कारण से जीवो का जन्म होता है ? और किस कारण से मृत्यु होती है ? आयुकर्म के उदय से प्राणो का संयोग होता है, उसी को जीवन कहते हैं। वर्त्तमान काल मे भोगे जाने वाले आयु कर्म का क्षय हो जाना मृत्यु है। इस प्रकार जब हम विचार करते हैं तो साफ मालूम हो जाता है कि कर्म के निमित्त से ही जगत् के जीवो का जीवन और मरण रूप कार्य हो रहा है। जब कोई आत्मा सिद्ध-मुक्त हो जाता है तब वह पूर्ण रूप से अकर्मा बन जाता है—लेश मात्र भी कर्म शेप नहीं रहते। इस कारण मुक्त जीव जन्म-मरण भी नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभ कर्म जब जीव के साथ लगे रहते हैं तभी जीव को जन्म-मरण करना पड़ता है। जो आत्मा मोक्ष मे चली जाती है वह शुभाशुभ कर्मों से अलिप्त हो जाती है; इस कारण वह जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पा लेती है। अगर आत्मा मे जरा भी मैल रह जाय तो निरंजन-निराकार पद नहीं मिलता। जो आत्मा पूरी तरह निरंजन अर्थात् निष्कलंक हो गई है और निराकार हो गई है वही शुद्ध कहलाती है और शुद्ध आत्मा ही मोक्ष में दाखिल होती है।

मोक्ष जाने के बाद, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और निरंजन-निराकार अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद भी आत्मा फिर संसार में आ

जाय और दुबारा जन्म-मरण के चक्कर में पड़ जाय तो साधुपन, पालना, नाना प्रकार की मुसीबतें झेल कर साधना करना किस काम का? धर्मध्यान करने का नतीजा ही क्या निकला? दुबारा जन्म लेना ही पड़ता हो तो फिर धर्म-क्रिया करेगा ही कौन? इससे समझा जा सकता है कि मुक्त जीव का फिर से आगमन नहीं होता।

मोक्ष का स्वरूप बतलाते हुए जैनशास्त्र में कहा है:—

शिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाह—
मपुणरावित्ति-सिद्धिगइनामधेयं—।

अर्थात्—मुक्ति शिवस्वरूप है—वहां कभी किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता। वहाँ जन्म मरण का चक्र नहीं है। दुनिया में स्वचक्र का और परचक्र का भय रहता है। स्वचक्र अर्थात् राजा स्वयं अपनी प्रजा को कष्ट पहुँचावे, और परचक्र अर्थात् बाहर से आया हुआ दूसरे देश का राजा आक्रमण करे। यह दोनों प्रकार का भय मोक्ष में नहीं रहता।

मोक्ष अचल है। जिस आत्मा ने एक बार मोक्ष पा लिया है, वह कभी भी अपने स्वरूप से चलित नहीं होगा। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि मुक्तात्माओं को हिलना-चलना नहीं पड़ता। हलन-चलन वह करता है, जिसे कोई काम करना हो। मुक्तात्मा तो कृतकृत्य हो चुके हैं, कोई भी कार्य करना उनके लिए शेष नहीं रहा है, अतएव उन्हें हलन-चलन भी नहीं करना पड़ता।

मुक्ति अरुज है अर्थात् सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगो से रहित है। रोग होते हैं विकार के कारण। जहाँ विकार नहीं वहाँ रोग भी नहीं हैं। इसके अतिरिक्त रोग या तो शरीर मे होता है या मन मे होता है। मुक्तात्मा इससे रहित हैं। अतएव वहाँ रोगो के लिए कोई गुञ्जाइश ही नहीं है। भाव रोग क्रोध मान, माया, लोभ आदि दोष भी वहाँ मौजूद नहीं हैं।

मुक्ति अनन्त है। किसी भी काल में मोक्ष दशा का अन्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार मोक्ष अक्षय है। उसका कभी क्षय नहीं होता। मुक्त जीवों का ज्ञान अनन्त होता है, दर्शन अनन्त होता है। उनका ज्ञान अनन्त पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानने वाला होता है इस अपेक्षा से भी मोक्ष अनन्त है।

मुक्ति अव्याबाध है। वहां किसी किस्म का रंज नहीं है, किसी प्रकार का कष्ट या वाधा-पीड़ा नहीं हैं। मुक्त जीव न स्वयं वाधा पाते हैं, न दूसरों को वाधा पहुँचाते हैं। इसलिए अव्याबाध हैं। अन्तराय कर्म के क्षय से उन्हे अनन्त सुख-प्राप्त हो गया है। जहाँ अनन्त सुख है वहाँ वाधा-पीड़ा के लिए अवकाश ही कहाँ है ?

मोक्ष अपुनरावृत्ति है। मोक्ष में गया हुआ जीव फिर कभी संसार में नहीं आता है।

इस प्रकार की मुक्ति पाने के लिए ही करणी की जाती है। दुबारा जनमने और मरने के लिए करणी नहीं है। वहाँ तो अनन्तकाल के लिए-सदा के लिए निवास होता है। मुक्तात्मा लोक के ऊपरी भाग में-अंतिम छोर पर स्थित रहते हैं। वहाँ

से वे सारे ब्रह्माण्ड को जानते हैं और देखते हैं। विश्व की कोई भी वस्तु और जीवों का कोई भी कार्य या भाव उनसे छिपा नहीं रहता। कहा भी है:—

मुक्त होने पर वही आत्मा पुनर्जन्म नहीं पाता है।
जीव अनन्तानन्त जगत् में गणना में नहीं आता है॥

यहाँ भी यही बात कही गई है। जिस आत्मा ने एक बार निष्कर्म अवस्था प्राप्त कर ली, उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। यहाँ यह प्रश्न खड़ा किया जा सकता है कि जन्म-मरण का कारण कर्म है, यह ठीक है और यह भी सही है कि मुक्त जीव कर्मरहित हो जाते हैं। परंतु जो कर्मरहित हो चुके हैं वे फिर कर्मसहित क्यों नहीं हो जाते? एक बार बीमारी मिट जाने पर दुबारा बीमारी उत्पन्न हो जाती है, उसी तरह अकर्मा जीव फिर सकर्मा क्यों नहीं हो जावें? अगर वे कर्मयुक्त हो सकते हैं तो फिर जन्म मरण भी कर सकते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तव में कर्म से ही कर्म उत्पन्न होते हैं। आत्मा में संसारी दशा में द्रव्य कर्म भी मौजूद हैं और भावकर्म भी मौजूद हैं। जैसे बीज और अंकुर में आपस में कार्य-कारणभाव है। बीज से अंकुर और अंकुर से बीज पैदा होता है और उनकी परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। कार्मण वर्गणा के पुद्गल द्रव्यकर्म कहलाते हैं और राग-द्वेष आदि जीव के विभावभाव भावकर्म कहलाते हैं। इन दोनों में कार्य-कारणभाव है। द्रव्यकर्म जब उदय में आते हैं तो उनके निमित्त से राग-द्वेष आदि भावकर्म उत्पन्न होते हैं और उन भाव-

होती है। किन्तु छिलका उतार लेने के बाद चावलों को बोया जाय तो वे नहीं उग सकते। इसी प्रकार कर्मों से मुक्त आत्मा फिर जन्म नहीं लेती। वह आत्मा सदा मोक्ष में—सुख में ही विराजमान रहती है। वह मोक्ष सर्वोपरि है।

यहाँ एक प्रश्न खड़ा हो सकता है कि मोक्ष में गये हुए जीव अगर वापिस लौट कर नहीं आते और संसार से निकल-निकल कर सदा मोक्ष में जाया करते हैं तो संसार कभी न कभी खाली हो जायगा। जिस राशि में वृद्धि नहीं होती किन्तु हानि (कमी) होती रहती है, उसका अन्त हुए बिना कैसे रह सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव अनन्तानन्त हैं। उनका कभी अन्त नहीं आ सकता। घटना और बढ़ना परिमित वस्तु में ही होता है, अपरिमित वस्तु में नहीं होता। उदाहरण के लिए काल को ले लीजिए। प्रतिक्षण काल व्यतीत होता जा रहा है। भविष्य काल वर्त्तमान बनता चला जा रहा है और वर्त्तमान काल भूतकाल बनता जाता है। जो भूतकाल बन जाता है वह सदा के लिए व्यतीत हो जाता है। वह फिर कभी लौट कर नहीं आता। अनादि काल से यह व्यवस्था चल रही है; मगर काल का अभी तक अन्त नहीं आया। कभी अन्त आएगा भी नहीं। इसी प्रकार जीव अनादि काल से मुक्त हो रहे हैं। किन्तु वे काल की तरह अनन्त हैं, अतएव उनका भी कभी अन्त नहीं आता। अन्त आने वाला होता तो अब तक तो संसार जीवों से खाली हो चुका होता! किन्तु अनन्तानन्त जीव राशि होने के कारण संसार कभी भी जीवों से शून्य नहीं हो सकता। जो लोग जीवों की परिमित संख्या मानते हैं, उन्हीं को यह दोष आ लगता है।

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—जानते तो हो?

उत्तर—जी हाँ।

तो आप अपने सुख को जान रहे हैं, प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं, फिर भी उसे कह नहीं सकते कि जलेबी खाने से ऐसा सुख होता है और गुलाबजामुन खाने में वैसा सुख होता है। आपका पौद्गलिक सुख है और बहुत परिमित भी है। फिर भी उसे कह नहीं सकते। ऐसी स्थिति में मुक्तात्माओं के अनन्त, असीम, आध्यात्मिक, अनिर्वचनीय और इन्द्रियागोचर सुख को कैसे कोई समझा सकता है? वह शब्दों द्वारा किस प्रकार कहा जा सकता है? फिर एक और कठिनाई यह है कि जो उस अनन्त सुख का अनुभव करते हैं, वे वाणी से रहित हैं और हमें उस सुख का स्वरूप बतलाने के लिए आते नहीं हैं। और जिनके पास वाणी है उन्हें उस सुख का अनुभव नहीं होता है। फिर मुक्ति के सुख का स्वरूप कैसे समझा जा सकता है?

फिर भी हमें उस सुख की एक अस्पष्ट-सी कल्पना अवश्य होती है। इसके लिए एक उदाहरण लीजिए.—

कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य को फोड़ा हो गया है और उस फोड़े के कारण वह मरणान्तिक कष्ट भुगत रहा है। उसे बड़ी सख्त वेदना हो रही है, प्राण निकलना चाहते हैं। उस समय कोई उससे कहता है—आप इतने अधीर क्यों हो रहे हैं? आप तो बैरिस्टर हैं, या हाकिम हैं, आपको तो धैर्य रखना चाहिए। भला बैरिस्टर या हाकिम होना कोई कम आनन्द की बात है!

यह बात सुनकर वह बीमार क्या कहेगा ? यही कहेगा कि भाड़ में जाय बैरिस्टरी, मेरे तो प्राण निकले जा रहे है !

तब दूसरा आदमी कहता है—अच्छा जाने दीजिए बैरिस्टरी को, आप कलाकंद खा लीजिए।

बीमार कहता है—चूल्हे मे डालो कलाकंद को ! मुझे नहीं खाना।

दूसरा आदमी बोलता है—ठीक, रहने दीजिए कलाकंद, अच्छी-अच्छी सुन्दरियाँ लाकर दूं ?

बीमार कहता है-काला मुंह करो सुन्दरियों का, मेरी तो जान जा रही है ?

दूसरा आदमी—आप कहे तो बढ़िया बग्घियाँ और मोटरें लाऊं सैर सपाटा ही कर आइए।

बीमार झुंझलाता है। कहता है—तुम्हे पागलखाने मे जाना चाहिए यहाँ क्यों आगये हो ! मेरा दम निकला जाता है और तुम्हे ऐश-आराम और सैर-सपाटा सूझ रहा है। जिस पर बीतती है वही जानता है।

दूसरा आदमी पूछता है—तो आप चाहते क्या हैं ?

बीमार—मैं और क्या चाहूँगा ? किसी तरह यह दर्द मिट जाना चाहिए।

वैद्य बुलाया गया। वैद्य ने कहा—पाँच सौ रुपया पेशगी लूंगा। उसे रुपये दिये गये और उपचार चालू किया गया। मगर

भाग्य से तकलीफ बढती ही चली गई और अब दुगुनी हो गई। दूसरा वैद्य बुलवाया गया और उसे हज़ार रुपये दिये गये। फिर भी दर्द मिटा नहीं। वह बढता ही चला गया। अब कोई दस-बीस हजार माँगता है तो वह भी दिये जा रहे हैं, मगर वेदना कम नहीं हो रही है।

भाइयो! ऐसे समय में धन काम नहीं आता। औरतें खड़ी-खड़ी रो रही हैं, लेकिन दुःख नहीं मिटा सकतीं। बड़ी-बड़ी हवेलियाँ, हाथी, घोडे, बाग-बगीचे, नौकर-चाकर आदि सारा का सारा वैभव मिलकर भी उस वेदना का सौवाँ हिस्सा भी कम नहीं कर सकता।

कोई उस बीमार से पूछे कि तुम्हें कितना दुःख हो रहा है? सुई चुभने जितना, थप्पड़ लगने जितना या लट्ठ लगने जितना? तब बीमार कहता है—मुझे इससे भी ज्यादा दुख है। मैं अपने दुख को जीभ से कह नहीं सकता।

बीमार इस प्रकार कह ही रहा था कि अचानक उधर कोई सिद्ध पुरुष आ पहुँचे। उन्होंने पूछा—भाई, तुझे क्या तकलीफ है? साफ-साफ बता। मुझे कौड़ी-पैसा कुछ नहीं चाहिए। मुझ से बन पड़ा तो तुझे चंगा कर दूंगा।

मानो बिल्ली की तकदीर से छींका टूटा। बीमार को बड़ी आशा बँधी। उसने विनम्र और दीन स्वर में कहा-महाराज! मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आप आ पहुँचे। दर्द के मारे मर रहा हूँ। प्राण निकलना ही चाहते हैं।

सिद्ध पुरुष ने फोड़े पर हाथ फेरा और कहा-ले, तू चंगा हो गया !

बीमार सचमुच कष्ट से मुक्त हो गया। कष्ट से मुक्त हुए उससे अब पूछो कि तुम्हें किस प्रकार का सुख हो गया? वह कहता है-मेरा सुख वाणी से अगोचर है ! जीभ से उसे कह नहीं सकता।

भाइयो ! अब जरा मुक्ति के सुख की कल्पना कीजिए। जब एक फोड़ा मिटने से भी अपार सुख होता है और वह सुख शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता तो फिर अनन्त जन्म-जरा-मरण के तथा सब प्रकार की अन्य उपाधियों के, पूरी तरह मिटने से प्राप्त होने वाला सुख कैसा होगा ? किसकी शक्ति है जो उसे कह सके ?

इस उदाहरण से एक बात और भी मालूम होती है। साधारण आदमी, जो गहरा विचार नहीं करते हैं, यह सोचते हैं कि सुख खाने-पीने, ऐश-आराम करने आदि में है। मगर यह उदाहरण बतलाता है कि जब चित्त में अशान्ति, असन्तोष, और व्याकुलता होती है तो संसार की बढ़िया से बढ़िया समझी जाने वाली वस्तुएँ भी सुखद नहीं होतीं। इससे साफ तौर से यह नतीजा निकलता है कि सच्चा सुख निराकुलता में है। जहाँ आकुलता है वहाँ दुःख है और जहाँ निराकुलता है वहाँ सुख है। मोक्ष में अनन्त निराकुलता है, अतः अनन्त सुख भी होना चाहिए।

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि संसार की किसी वस्तु में सच्चा सुख नहीं है। मोटर में बैठ कर सैर करना

सुखदायक माना जाता है, मगर दस-पाँच मील चलकर जंगल में वह बिगड़ जाती है तो सुख कहाँ गायब हो जाता है ? पुत्र की प्राप्ति हो गई तो खुशी का ठिकाना नहीं रहा। मंगलगीत गाये गये, बाजे बजवाये गये। मित्रों को भोज दिया गया। मगर बीमारी का एक धक्का लगा और बालक चल बसा। तो क्या सारा सुख-दुःख रूप में परिणत नहीं हो जाता है ? स्त्री प्रसंग में सुख समझा जाता है, परन्तु जब गर्मी और सुजाक जैसी दारुण और भयानक बीमारियाँ फूट पड़ती हैं तो साक्षात् नरक-वेदना की याद आने लगती है। फिर बतलाओ तो सही कि सुख कहाँ है ? कदाचित् तुम कहोगे कि सुख शरीर में है, मगर सच पूछो तो यह शरीर ही दुःखों का अक्षय भंडार है। 'शरीरं व्याधिमन्दिरम्' यह कहावत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त यह शरीर भी तो एक दिन तुम्हें छोड़कर चला जायगा।

एक आदमी बीमार पड़ा। वह इतना बीमार हो गया कि तड़फने लगा। वह दुख के मारे चारपाई पर पड़ा-पड़ा रोता है। माँ आती है और उसे देखकर रोती है। भाई, बहन, स्त्री, पुत्र आदि सब रोते हैं और जो साता पूछने आते हैं वे भी रोते हैं। जब बीमार का दुःख नहीं देखा गया तो लोगों ने आना ही छोड़ दिया। अब वह अकेला पड़ा-पड़ा विचारता है और काया की तरफ देखकर कहता है-'क्या तू मुझसे छूटेगी ?' तब काया उससे कहती है-अब मेरी बात सुनो। मैं चाहती हूँ कि मैं तुम्हें न जाने दूँ। हे आत्मा, मुझे छोड़कर मत जाओ। मैं अर्ज करती हूँ जीवराजजी, इसे मंजूर करो।—

दो दिन रहो था रे जीवराज ! पणी फिर नहीं मिलेगा रे।

हे स्वामी दो दिन और ठहर जाओ। कौन जाने फिर कब मिलन होगा ?

बालपने के साथी हो प्रीति कर मति विसारे रे,
आप बिना इण काया ने कुण है राखनहारो रे ॥

काया बोली—हे जीवराज ! हम दोनों बालकपन के साथी हैं। हमारी-तुम्हारी प्रीति लम्बे समय से चली आ रही है। इस प्रीति को अब क्यों भूल रहे हो ? दो दिन तो और ठहरो। आपने मुझे कितना सुख सौभाग्य दिया है ? अपने हाथों नहलाया-धुलाया, इत्र लगाया, पाउडर लगाकर सुन्दरता से मंडित किया, गुलाब और चमेली की माला पहनाई। इस तरह मुझे सब प्रकार से सुखी बनाया है। हे बालपन के सहचर ! मेरी जिंदगी के आधार तुम्हीं हो। तुम्हारी बदौलत ही मेरा सौभाग्य है। तुम मुझे छोड़ जाओगे तो कौन मुझे पूछेगा ? फिर कोई मेरी रक्षा करने वाला नहीं है।

तब जीवराज कहते हैं:—

वैरी काल माने नहीं म्हारी समझे नहीं समझाये रे,
घर खाली करणे दो इणने द्वन्द्व मचायो रे ॥

हे प्राणप्रिये ! मैं तुम्हें छोड़ कर, स्वप्न में भी जाना नहीं चाहता। मगर करूं क्या ? विवश हूँ,। दुनिया में वह जो काल सिंहजी (काल-यमराज-मृत्यु) साहब हैं न। ये सब सिंहों के सिरमौर हैं। वह मेरे पीछे पड़ गये हैं। कहते हैं बस, अब चल दो। इस घर को खाली कर दो। उनका आदेश अप्रतिहत है। किसी

की क्या मजाल कि कालूसिंह के हुक्म को टाल सके ! उनके आगे किसी की नहीं चलती। क्या निर्बल और क्या सबल और क्या राजा और क्या रंक सभी उनके सामने पानी भरते हैं। सबको उनकी उगंली के इशारे पर नाचना पड़ता है।

तब काया बोली—कालूसिंहजी नहीं मानते तो मेरे सारे गहने उन्हें दे दो। इतनी बड़ी रिश्वत देख कर तो देवता भी ललचा जाएँगे। क्या कालूसिंह नहीं मानेंगे ?

गेंद गोखरु अनका टनका, रिश्वत माँहि दे दो रे।
मीठी बोली कर नरमाई, वाने कह दो रे॥

मेरे हाथों के गेंद और गोखरू हैं, अनका-टनका है, इन सब को घूंस में दे दो। और मीठे वचन कह कर हाथ जोड़ कर आजीजी कर लो। तब जीवराज बोले:—

डाक्टर वैद्य तणी नहीं माने, मिलट्री किए लेले रे।
राजा रंक नहीं माने यो किए ने नहीं देरो रे॥

प्रिये ! तू कहती है कि अनका-टनका रिश्वत में दे दो, लेकिन वे रिश्वत लेते तो संसार के सभी धनवान् लोग कभी मरते ही नहीं ! वे पहले ही अपनी जायदाद में से आधा तिहाई रिश्वत के लिए अलग रख देते। मगर यह तो डाक्टर, वैद्य, नेता, राजा-रंक आदि किसी की भी परवाह नहीं करता। उसके लिए सब समान है। इसीलिए तो यमराज का एक नाम 'समदर्शी' भी है।

भव्य जीवो ! यह काल न तलघर से डरता है, न बन्दूक,

तोप और तलवार से ही डरता है। मौत किसी से भी नहीं डरती। मियाद पूरी हुई कि उठाकर ले ही जाता है। समझे?

> *असंखयं जीविय मा पमायए,*
> *जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।*
> *एवं वियाणाइ जणे पमत्ते,*
> *किन्नु विहिंसा अजया गाहिंति?॥*
>
> —उत्तराध्ययन, ४, १.

भगवान् फरमाते हैं—इस अनमोल जीवन को प्रमाद में मत गँवाओ। जब बुढ़ापा आकर घेर लेता है और मौत सामने झांकने लगती है तो संसार की कोई भी शक्ति तुम्हारा त्राण करने में समर्थ नहीं हो सकती। जिन्होंने अपने जीवन में धर्म का आचरण किया है, उन्हें तो धर्म का सहारा मिल जायगा, मगर जो हिंसा आदि पापों में लिप्त रहे हैं अथवा जिन्होंने प्रमाद के अधीन होकर अपना जीवन वृथा बर्बाद कर दिया है, उनको किसका सहारा मिलेगा? वे किसकी शरण में जाएँगे? वास्तव में वे निराधार हैं। उनके लिए कोई शरणभूत नहीं होगा। वे असहाय होकर दुख भोगेंगे!

भाइयो! यमराज का हमला अनिवार्य है। उसे कोई रोक नहीं सकता। दूसरा आदमी अपनी आयु का कुछ हिस्सा देकर मरने वाले को जीवित रखना चाहे तो भी यमराज को कबूल नहीं। चर्खा कातने वाली का धागा टूट जाय तो वह जुड़ सकता है, मगर टूटी हुई आयु फिर नहीं जुड़ सकती। चाहे संवत्सरी के दिन भी उपवास मत करो, एकादशी को भी व्रत न रक्खो, रोजा

भी मत रक्खो, फिर भी यह शरीर हमेशा नहीं टिकने का! काल इसे छोड़ने वाला नहीं! रे मनुष्य! अगर तू ज्यादा खाकर ज्यादा मोटा-ताज़ा हो जायगा तो भी सदा जिंदा नहीं रहेगा, अलबत्ता उठाने वालों को तकलीफ देगा! ऐसा समझ कर आगे का इन्तजाम कर ले। धन-दौलत, महल-मकान वगैरह कोई भी चीज़ काम नहीं आने वाली है। तेरे पास जो सामग्री है, पुण्य के उदय से जो सम्पत्ति और शक्ति तुझे मिली है, उससे दुखियों का दुःख दूर कर और दूसरों को साता पहुंचा। बस, यही पुण्य-धर्म तेरे साथ जायगा। देख ले, उस आदमी के फोड़ा हो गया तो कोई भी उसका दुःख न मिटा सका। आखिर सिद्धराज मिले और तब दुःख दूर हुआ। सच पूछा जाय तो न काया में सुख है, न माया में सुख है। जहाँ संयोग है वहाँ वियोग है और जहाँ वियोग है वहाँ दुःख है।

जो भव्य जीव मुक्ति का सच्चा स्वरूप समझ कर उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे निरंजन निराकार पद पाते हैं और वही सदा के लिए सुखी बन जाते हैं।

जम्बूकुमार की कथा

जम्बूकुमार ने इसी निरंजन निराकार पद को प्राप्त करने के लिए कमर कसी है। उन्होंने कन्याओं को पहले ही सूचित करवा दिया कि मैं ने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया है। केवल माताजी की इच्छापूर्ति के लिए विवाह करना स्वीकार किया है। विवाह होते ही मैं संयम ग्रहण कर लूंगा। कोई भी कन्या किसी भी संदेह या भ्रम में न रहे। इसके पश्चात् भी अगर किसी को मेरे साथ विवाह करना हो तो करे!

जम्बूकुमार की ओर से जब यह सूचना पहुंची होगी तो विवाह के लिए उत्कंठित और जम्बूकुमार जैसे नर-रत्न की प्राप्ति के लिए अपने आपको धन्य मानने वाली उन कन्याओं के हृदय की क्या हालत हुई होगी; यह कल्पना करना भी कठिन है। उनके मंसूबे धूल में मिल गये। मनोरथों पर तुषारपात हो गया। उत्कंठा जाती रही। हर्ष हवा हो गया। गहरे विषाद की छाया उनके चेहरे पर झलकने लगी। उन्हें ऐसा लगा कि किसी ने आसमान से धरती पर पटक दिया हो।

मगर अब भी आशा का एक नाजुक तन्तु अवशेष था। इसी के बल-भरोसे आठों कन्याएं एकत्र हुईं। वे आपस में कहने लगीं:—

सजनी सँभलो हो कि बहिना ! करणो कौन उपाय !

पहले-पहल किसी को कोई बात ही न सूझी। सभी एक दूसरी से प्रश्न करने लगीं-बहिनो ! हम सब एक ही नाव में बैठी हैं। तरेंगी तो सभी और डूबेंगी तो भी सभी साथ-साथ ! मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक परिस्थिति में अपने होश-हवाश को सँभाल रक्खे और जो भी विपदा माथे पर आ पड़ी हो, उसके निवारण का शक्ति भर प्रयत्न करता रहे। हम सब का भाग्य एक ही धागे से बँधा हुआ है। सोचना चाहिए कि इस हालत में हमें क्या करना है ?

इस प्रकार सोच-विचार चल रहा था। तब उनमें से एक ने कहा—

जब तक मुंह देखा नहीं हो,

कि बहना ! तब तक है यह बात।

तिरिया के वश में हुआ हो,
कि सजनी ! तीन खंड का नाथ ॥

वह कहने लगी—बहिनो इतनी ज्यादा चिन्ता क्यों करती हो? पतिदेव को गृहस्थी में रखना हम लोगों का काम है। पुरुषों की बहत्तर कलाएँ हैं और स्त्रियों की चौसठ। मगर हमारी एक ही कला के सामने उनकी सारी कलाएँ हवा हो जाएँगी। साधुपन तो क्या, वे ईश्वर का नाम लेना भी भूल जाएँगे।

किसी कवि ने कहा है:—

न हयैर्न च मातंगैर्न रथैर्न च पत्तिभिः।
स्त्रीणामपाङ्गदृष्ट्यैव जीयते जगतां त्रयम् ॥

स्त्रियों की तिरछी चितवन अनायास ही तीनों लोकों को जीत लेती है। उसके लिए न घोड़ों की आवश्यकता होती है, न हाथियों की, न रथों की और न पैदल फौज की।

और भी कहा है:—

यावद् दृष्टिर्मृगाक्षीणां, नो नरीनर्ति गत्वरा।
तावज्ज्ञानवतां चित्ते, विवेकः कुरुते पदम् ॥

इतिहास में और पुराणों में बड़े-बड़े ज्ञानी कहलाने वालों की कथाएँ देख लो। जब तक मृग-नयनियों की चपल दृष्टि उनके सामने नहीं नाचती है, तभी तक ज्ञानवानों का ज्ञान टिकता है। नारी के साथ चार आँखें होते ही वे अपने विवेक को भूल जाते हैं और अविवेकी बन जाते हैं।

वह कन्या कहती है-हमारे सामने मनुष्य की क्या विसात है?

दुनियाँ में कोई ऐसी चीज़ नहीं जो अपने वश में न हो जाय! हम आठ हैं और वे अकेले हैं। हम सहज ही उन्हें अपने अधीन कर लेंगी। तुलसीदासजी कहते है:—

नारि विवश नर सकल गुसाईं।
नाचइ नर मरकट की नाई॥

अर्थात्—सभी संसारी मनुष्य नारी के वश में हैं। जैसे मदारी बंदर को नचाता है, वैसे ही नारी नर को नचाती है।

याद रखना चाहिए; यह कोई मामूली बात नहीं है:—

महादेव से मर्द नार किस भाँति नचाया?
गोप्यां मिलि गोविन्द रास किस तरह रचाया?
नाथी मालिन निशंक द्वारिकानाथ घुमाया,
सोनारिन देवर सुसरा छल साँच बनाया?
इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र सब, तीन लोक जीती त्रिया।
अभया से कपिला कहै कई पंडित को खांडत किया॥

हम औरतों की शक्ति क्या मामूली है? देखो, महादेव सरीखे भी अपने सामने नाचते थे और व्रज की गोपियों ने योगेश्वर का विरुद धारण करने वाले श्रीकृष्ण को किस तरह नचाया था? सुनारिन ने देवताओं को छला और झूठ को भी सच साबित कर दिखाया था। औरतों की शक्ति अजेय है। स्त्री जाति ने सारे संसार पर अपना आधिपत्य जमा रक्खा है।

रानी का आदेश पाकर दासी गई और एक मोहर डाल आई। पण्डितजी ने मोहर देखी तो दिल ललचा गया। वह बोले-इसे कोई कुछ मत कहना, यह मोहर डाले तो डालने देना ! दूसरे दिन दासी फिर आई और दो मोहरें डाल गई। इसी प्रकार तीसरे दिन पाँच और चौथे दिन दस मोहरे डाल गई।

यह उदारता देख कर पंडितजी के दिल में कुतूहल हुआ। उन्होंने उससे पूछा-तू कौन है ?

दासी-मैं महारानी की दासी हूँ। आपकी महिमा सुनकर महारानीजी बहुत प्रसन्न और प्रभावित हुई हैं। अगर आप महारानीजी को एक बार दर्शन दें तो वे अपने गले का नौलखा हार आपको उपहार-स्वरूप भेंट करेंगी।

पंडितजी—अच्छा, मैं परसों आऊंगा।

पंडितजी ने दूसरे दिन कथा सुनने वालों को सूचना दे दी कि मेरी तबीयत ठीक नहीं है। कल कथा नहीं होगी।

दूसरे दिन नियत समय पर दासी पंडितजी के पास पहुँची और उन्हें महल में ले आई। पंडितजी राजमहल में प्रवेश करके रानी के पास पहुँचे। इधर-उधर की बात चीत होने लगी। उधर संयोग से राजा ने सोचा-आज कथा नहीं हो रही है तो चलो महल में ही हो आऊं। यह सोच कर राजा भी रानी के पास जाने के लिए रवाना हुआ। राजा के आने का समाचार पंडितजी को मालूम हुआ। वह-डर से थर-थर कांपने लगे। बोले-मुझे बचाओ। नहीं तो मेरी सारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायगी।

रानी ने तत्काल उपाय सोच निकाला। पंडितजी को एक

संदूक मे घुसेड़ कर बंद कर दिया गया और बाहर से ताला जड़ दिया गया।

पंडितजी की सुरक्षा करने में कुछ देर हो ही गई। तब तक राजा को दरवाजे पर प्रतीक्षा करनी पड़ी। द्वार खुलने पर राजा ने पूछा-दरवाजा खोलने मे आज इतनी देर क्यों की गई ?

रानी—अन्नदाता ! हम स्त्रियां जो ठहरीं। दरवाजा खोलने से पहले कपड़े-लत्ते ठीक करने पडते हैं। फिर भी ज्यादा देरी तो हुई नहीं है। यो ही आप हमे देखते तो कहते कि रानी कितनी निर्लज्ज है।

राजा बोला—नहीं यह बात नहीं है। जान पड़ता है, यहां कोई आदमी आया हुआ है।

रानी—अगर आप जान गये हैं तो ठीक है। इस संदूक में बंद है।

राजा ने संदूक को एक ठोकर लगाई और क्रोधित होकर कमर से तलवार निकाली।

राजा की हुंकार सुनते ही पंडितजी को पेशाब आ गया। रानी ने सोचा-हद हो गई ! और तब उसने राजा से कहा—अन्नदाता ! हद हो गई। मैं जो कहती हूँ वही आप मान लेते हैं। देखिए न, संदूक में गंगा-जली थी और आपकी लात की ठोकर लगने से वह फूट गई जान पड़ती है।

रानी का स्पष्टीकरण सुन कर राजा को पश्चात्ताप हुआ। थोड़ी देर बातचीत करके वह चला गया। राजा के चले जाने

पर पंडितजी को संदूक से बाहर निकाला गया। फिर रानी ने उन्हें सावधान करते हुए कहा—देखो पंडितजी, मैं ने सुना है कि आप स्त्री जाति की बहुत निन्दा करते हैं। आज हमने तुम्हारे प्राण बचा दिये हैं। अब भागवत बाँचते समय रुक्मिणी का पूरा वृत्तान्त सुनाना। कभी नारी जाति से घृणा मत करना, कभी निन्दा मत करना। कहा है:—

एक कनक दूजी कामिनी मोटी जग में जाड़।
राजा राणा बादशाह पड़ पड़ फोड्या हाड़॥
एक कनक दूजी कामिनी है मोटी तलवार।
उठे हुते हरिभजन को, बिच में लीना मार॥
एक कनक दूजी कामिनी, मोटा जग में फंदा।
इन्हें छोड़कर भजन करे वही साहब का बंदा॥

भाई! वही साहब का बंदा है जिसने कनक और कामिनी का त्याग कर दिया है। वास्तव में, इस संसार में कनक और कामिनी का प्रलोभन बहुत बड़ा होता है।

जम्बूकुमार की आठों क्वारी स्त्रियाँ सोचती हैं कि जब तक कुंवर के सामने हम नहीं पहुंची हैं, तभी तक वैरागी बने हुए हैं। जब हम अपने मुंह दिखाएँगी तो उनका वैराग्य न जाने कहाँ विलीन हो जायगा! इसलिए चिन्ता-फिक्र छोड़कर हमें अपने निश्चय पर अटल ही रहना चाहिए।

अखण्ड शान्तिसप्ताह की समाप्ति पर दिवाकरश्री का प्रवचन.

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
संती संतिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरं॥

भाइयो! सब से पहले आनन्दमय, पूर्णब्रह्म, अखंड, अविनाशी, सच्चिदानन्द सिद्ध भगवन्त को हमारा नमस्कार है!

इस लोक में शुद्ध संयम का पालन करने वाले जितने भी सन्त मुनिराज हैं, उन्हें हमारा नमस्कार है!

भाइयो! इस सप्ताह भर अखण्ड रूप से शान्ति-जाप किया गया है और भगवान् शान्तिनाथ का नाम-स्मरण किया गया है। भगवान् शान्तिनाथ वर्त्तमान अवसर्पिणी काल के सोलहवें तीर्थंकर हैं। आज सारे विश्व में घोर अशांति का साम्राज्य है। क्या राजा, क्या प्रजा, क्या धनी और क्या निर्धन, सभी अशान्ति का अनुभव कर रहे हैं। दुनिया के किसी भी देश को ले लीजिए। आपको पता चलेगा कि वह शान्ति का अनुभव नहीं कर रहा

है। ऐसा जान पड़ता है, मानों सारा संसार एक भट्ठी है और वह विकराल ज्वालाओं से परिपूर्ण है। उसमें अशान्ति की लपटें फैली हुई हैं। जो व्यक्ति या राष्ट्र दुखी है वह तो अशान्त है ही, मगर जो सुखी है वह भी शान्त नहीं है। उसे दुखियों से भय लग रहा है। राजा-प्रजा में, सम्प्रदाय-सम्प्रदाय में संघर्ष हो रहा है। तात्पर्य यह है कि संसार में सर्वत्र अशान्ति ही अशांति दृष्टिगोचर हो रही है।

ऐसे समय प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह शान्ति के लिए यथोचित प्रयत्न करे। सब को शान्ति के उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। शान्ति के अनेक उपाय हो सकते हैं। उन्हें हम लौकिक और लोकोत्तर—दो विभागों में बाँट सकते हैं। लौकिक उपाय यह है कि हमारे पास जो साधन-सामग्री है, जो शक्ति है, जो सम्पत्ति है, उसको अशान्त, पीड़ित और दुखी जनता को शान्ति पहुँचाने के कार्य में लगाये। मान लीजिए, आपके पास जरूरत से ज्यादा अनाज मौजूद है और आपका पड़ौसी अनाज के बिना भूखा मर रहा है। उसके बाल-बच्चे दाने-दाने के लिए तरस रहे हैं। ऐसी दशा में अपना कर्त्तव्य समझते हुए आप पड़ौसी को आत्मीय जन समझ कर उसे खाना पहुँचा दें तो क्या आपत्ति है? जिस देश का प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार विचार कर अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, उस देश में अशान्ति नहीं रह सकती। याद रक्खो कि दूसरों की शान्ति में ही तुम्हारी शान्ति है। अगर तुम्हारे देशवासी, तुम्हारे पड़ौसी सुखी होंगे तो तुम भी सुखी रह सकोगे। अगर तुम्हारे चारों ओर अशान्ति की ज्वालाएँ भभक रही होंगी तो तुम्हें

भी शान्ति नसीब नहीं हो सकती। इस प्रकार अपनी निज की शान्ति के लिए भी दूसरों को शान्ति पहुँचाने की आवश्यकता है। इस बात को कभी मत भूलना कि दूसरों को अशान्त रख कर कोई शान्ति नहीं पा सकता।

शान्ति प्राप्त करने का दूसरा लोकोत्तर उपाय भगवान् शान्तिनाथ का जाप करना है। 'शान्तिनाथ' यह नाम ही शान्ति का महामंत्र है। भगवान शान्तिनाथ ने जन्म लेते ही जगत् में शान्ति की लहर फैला दी थी। उनका नाम आज भी जगत् की अशान्ति दूर करने में समर्थ है। अतएव शुद्ध चित्त से शान्तिनाथ का नाम जपना चाहिए।

हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की महारानी अचला देवी के उदर से भगवान् शान्तिनाथ का जन्म हुआ था। जब आप अचला महारानी की कूख में आये थे, देश में महामारी और महामृगी का रोग फैला हुआ था। सर्वत्र अशान्ति थी। हाहाकार मचा हुआ था। मगर आपका आगमन होते ही रोग शान्त हो गए और पूर्ण शान्ति हो गई। इसी कारण आपका नाम 'शान्तिनाथ' रक्खा गया। भगवान् शान्तिनाथ ने जगत् को पूर्ण शांति प्रदान की और बाद में सच्ची शान्ति का मार्ग बतलाया। इसी कारण तो आज भी हम कहते हैं:—

साता कीजो जी, श्रीशान्तिनाथ प्रभु। शिवसुख दीजो जी॥टेर॥

शान्तिनाथ है नाम आपको, सब ने साताकारी जी।
तीन भुवन में चाया प्रभुजी, मृगी निवारी जी॥ १॥

आप सरीखा देव जगत् में, और नजर नहीं आवे जी ।
त्यागी ने वीतरागी मोटा, मुझ मन भावे जी ॥ २ ॥
शान्ति जाप मन मांही जपता चावे सो फल पावे जी ।
ताव तिजारी दुख दारिद्र सब टल जावे जी ॥ ३ ॥
विश्वसेन राजाजी के नन्दन, अचला देवी जाया जी ।
गुरु प्रसाद से चौथमल्ल कहे, घणो सुहाया जी ॥ ४ ॥

यह श्री शान्तिनाथ प्रभु की स्तुति है। शान्तिनाथ प्रभु की स्तुति का फल अचिन्त्य है। इससे लौकिक और लोकोत्तर-दोनों प्रकार की शान्ति प्राप्त होती है। घोर अशान्ति के अवसर पर भी परम शान्ति की प्राप्ति होती है। जिस देश में शान्ति प्रभु का नाम जपा जाता है, उस देश में शान्ति का अखण्ड साम्राज्य हो जाता है। सर्वत्र आनन्द छा जाता है।

पर एक बात ध्यान में रखना चाहिए। भगवान् शान्तिनाथ ने जगत् में शान्ति का प्रचार किया था। अगर वे स्वयं शान्ति प्राप्त करके और उनसे जगत् को शान्ति न मिलती तो आज कौन उनका नाम जपता? अतएव यह आवश्यक है कि भगवान् के नाम का जाप करते समय स्वार्थमयी भावना नहीं रहनी चाहिए। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि दूसरों की शान्ति में ही अपनी शान्ति है। अतएव प्राणी मात्र के कल्याण के लिए, उदार और निस्वार्थ भाव से भगवान् के नाम का स्मरण करना चाहिए। ऐसा करने से दूसरों को और आपको भी शान्ति प्राप्त होगी।

भी शान्ति नसीब नहीं हो सकती । इस प्रकार अपनी निज की शान्ति के लिए भी दूसरों को शान्ति पहुँचाने की आवश्यकता है। इस बात को कभी मत भूलना कि दूसरों को अशान्त रख कर कोई शान्ति नहीं पा सकता।

शान्ति प्राप्त करने का दूसरा लोकोत्तर उपाय भगवान् शान्तिनाथ का जाप करना है। 'शान्तिनाथ' यह नाम ही शान्ति का महामंत्र है। भगवान शान्तिनाथ ने जन्म लेते ही जगत् में शान्ति की लहर फैला दी थी। उनका नाम आज भी जगत् की अशान्ति दूर करने में समर्थ है। अतएव शुद्ध चित्त से शान्तिनाथ का नाम जपना चाहिए।

हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की महारानी अचला देवी के उदर से भगवान् शान्तिनाथ का जन्म हुआ था। जब आप अचला महारानी की कूंख मे आये थे, देश में महामारी और महामृगी का रोग फैला हुआ था। सर्वत्र अशान्ति थी। हाहाकार मचा हुआ था। मगर आपका आगमन होते ही रोग शान्त हो गए और पूर्ण शान्ति हो गई। इसी कारण आपका नाम 'शान्तिनाथ' रक्खा गया। भगवान् शान्तिनाथ ने जगत् को पूर्ण शांति प्रदान की और बाद में सच्ची शान्ति का मार्ग बतलाया। इसी कारण तो आज भी हम कहते हैं.—

साता कीजो जी, श्रीशान्तिनाथ प्रभु। शिवसुख दीजो जी॥टेर॥

शान्तिनाथ है नाम आपको, सब ने साताकारी जी।

तीन भुवन में चावा प्रभुजी, मृगी निवारी जी ॥ १ ॥

आप सरीखा देव जगत् में, और नजर नहीं आवे जी ।
त्यागी ने वीतरागी मोटा, मुझ मन भावे जी ॥ २ ॥
शान्ति जाप मन मांही जपता चावे सो फल पावे जी ।
ताव तिजारी दुख दारिद्र सब टल जावे जी ॥ ३ ॥
विश्वसेन राजाजी के नन्दन, अचला देवी जाया जी ।
गुरु प्रसाद से चौथमल्ल कहे, घणां सुहाया जी ॥ ४ ॥

यह श्री शान्तिनाथ प्रभु की स्तुति है। शान्तिनाथ प्रभु की स्तुति का फल अचिन्त्य है। इससे लौकिक और लोकोत्तर-दोनों प्रकार की शान्ति प्राप्त होती है। घोर अशान्ति के अवसर पर भी परम शान्ति की प्राप्ति होती है। जिस देश मे शान्ति प्रभु का नाम जपा जाता है, उस देश में शान्ति का अखण्ड साम्राज्य हो जाता है। सर्वत्र आनन्द छा जाता है।

पर एक बात ध्यान में रखना चाहिए। भगवान् शान्तिनाथ ने जगत् में शान्ति का प्रचार किया था। अगर वे स्वयं शान्ति प्राप्त करते और उनसे जगत को शान्ति न मिलती तो आज कौन उनका नाम जपता ? अतएव यह आवश्यक है कि भगवान् के नाम का जाप करते समय स्वार्थमयी भावना नहीं रहनी चाहिए। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि दूसरों की शान्ति में ही आपकी शान्ति है। अतएव प्राणी मात्र के कल्याण के लिए, उदार और निःस्वार्थ भाव से भगवान् के नाम का स्मरण करना चाहिए। ऐसा करने से दूसरों को और आपको भी शान्ति प्राप्त होगी।